ध्वनि-सिद्धान्त

ध्वनि-सिद्धान्त

डा० राममूर्ति शर्मा
एम०ए० पी-एच०डी० डी० लिट० शास्त्री
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़

1980



प्रथम सस्करण 1980

प्रकाशक -
अजन्ता पब्लिकेशन्स (इडिया)
जवाहर नगर, दिल्ली-110007

वितरक
अजन्ता बुक्स इन्टरनेशनल,
1, यू बी, जवाहर नगर,
बग्लो रोड, दिल्ली-110007

मुद्रक
अवतार प्रिंटर्स, निरकारी कॉलोनी,
द्वारा स्काईटोन इण्डस्ट्री, दिल्ली

पुरोवाक्

ध्वनि सिद्धान्त अलंकार शास्त्र का मूर्धन्य सिद्धान्त है। सैद्धान्तिक दृष्टि से जो समन्वयता, समग्रता एवं चारुता का चरमोत्कर्ष ध्वनि के अन्तर्गत उपलब्ध है, वह अन्य किसी सिद्धान्त मे नहीं, यह निसंकोच कहा जा सकता है। यही कारण है कि महिमभट्ट प्रभृति ध्वनि-विरोधी आचार्यों के द्वारा इस सिद्धान्त का निराकरण किये जाने पर भी इसकी महत्ता यथावत् स्वीकार्य है। साथ ही अभिव्यक्ति की जो व्यापक-चारुता ध्वनि में उपलब्ध होती है, वह न वक्रोक्ति में और न रीति में। यह दूसरी बात है कि ध्वनि-प्रासाद की आधारभूत भित्ति मे उक्त दोनों सिद्धान्तों की स्थिति यथा-कथञ्चित् स्वीकार्य है। यही नहीं, दण्डी एवं रुद्रट की दृष्टि मे भी प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से ध्वनि की बीज भावना के दर्शन किए जा सकते हैं। ध्वनि की महत्ता इस कारण से भी अङ्गीकार्य है कि यही चित्रकला, मूर्तिकला आदि के प्राण तत्त्व के रूप में अभिधा से भिन्न तत्त्वों का संकेत करती है।

सामान्यतया ध्वनिवाद के प्रधान आचार्य आनन्दवर्द्धन ने ही 'समाम्नात पूर्व' कह कर इस सिद्धान्त की प्राचीनता स्वीकार की है। मम्मट ने भी 'ध्वनिर्बुधैः कथित' कहकर ध्वनि की प्राचीनता की ओर निर्देश किया है। इस प्रकार ध्वनि का यह प्राचीन रूप हमे वैयाकरणों के स्फोटवाद में उपलब्ध होता है। किन्तु ध्वनि को सैद्धान्तिक एवं व्यवस्थित रूप मे प्रतिष्ठित करने का श्रेय आनन्दवर्द्धन को ही है। आचार्य आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा बतलाते हुए उसे अलंकार तथा रीति से प्रधानतर रूप मे प्रतिष्ठापित किया है। साथ ही इन्होंने अनेक आचार्यों के मतों का खंडन करते हुए अभिधा तथा लक्षणा व्यापार से अतिरिक्त व्यंजना-ध्वनि व्यापार की प्रतिष्ठा है।

वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि तथा रसध्वनि के रूप से मूल रूप से ध्वनि के तीन रूप आनन्दवर्द्धन ने प्रतिष्ठापित किए हैं। इनमे रसध्वनि सर्वोत्कृष्ट है। रस और ध्वनि मे उच्चावच भाव न होकर दोनों मे अनिवार्य सम्बन्ध है। इसी लिए रस ध्वनि के रूप मे आनन्दवर्द्धन ने रस को ध्वनि का अनिवार्य तत्त्व माना है।

ध्वनि जैसे व्यापक एव महत्त्पूर्ण सिद्धान्त के सम्बन्ध मे अलंकारशास्त्र के विचारको की धारणाओ का भिन्न होना स्वाभाविक है। प्रस्तुत कृति के अन्तर्गत अनेक विचारकों द्वारा किये गये ध्वनि सिद्धान्त के विविध पक्षो के विवेचनात्मक निरूपण से ध्वनि सिद्धान्त का विशद रूप स्पष्ट हो सकेगा, ऐसा मेरा विश्वास है। साथ ही, ध्वनि विषयक इस अनुशीलन से ध्वनि के सम्बन्ध मे नवीन समीक्षात्मक एव तुलनात्मक दृष्टि का भी आविर्भाव हो सकेगा। इस प्रकार ध्वनि सिद्धान्त के अध्ययन का यह प्रयास अलकार शास्त्र के क्षेत्र मे एक महत्त्वपूर्ण स्थान की पूर्ति करेगा, यह नि सन्दिग्ध कहा जा सकता है।

इस ग्रन्थ की प्रस्तुति के सम्बन्ध मे मेरी शिष्या मायावती, एम० ए०, एम० फिल०, लेक्चरर, के० एम० कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय ने प्रूफ पढकर सहयोग किया है। उनके प्रति मैं श्रेयस्काम हू। इस सम्बन्ध मे प्रस्तुत प्रयत्न को प्रकाश मे लाने के लिए अजन्ता बुक्स इन्टरनेशनल के स्वामी श्री बलवन्त जी विशेष रूप से धन्यवाद के पात्र हैं। मेरा यह प्रयास अलकार शास्त्र के जिज्ञासुओ के लिए यदि किञ्चिन्मात्र भी उपयोगी सिद्ध हुआ तो मैं अपने प्रयत्न को सार्थक समझूगा।

रामनवमी
मणिद्वीप
दिल्ली ३३

रामभूर्ति शर्मा

क्रम

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक

डॉ० शिवशेखर मिश्र,
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी,
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

डॉ० धर्मेन्द्र कुमार गुप्त,
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला

डॉ० रविशंकर नागर,
प्राध्यापक, संस्कृत-विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

डॉ० राममूर्ति शर्मा,
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

डॉ० प्रेम प्रकाश गौतम,
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
सनातन धर्म कालेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

डॉ० वागीश दत्त पाण्डेय,
रीडर, हिन्दी विभाग,
क० मु० इन्स्टीट्यूट,
आगरा विश्वविद्यालय, आगरा

डॉ० तीर्थराज त्रिपाठी,
प्राध्यापक, संस्कृत विभाग,
वेङ्कटश्वर कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

डॉ० अनिरुद्ध जोशी,
प्राध्यापक संस्कृत विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़

डॉ० सुन्दर लाल कथूरिया
प्राध्यापक हिन्दी विभाग,
सनातन धर्म कॉलिज,
दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली

डा० सुलेख चन्द्र शर्मा
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
देश बन्धु कॉलेज, काल्का जी,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

डॉ० कुन्दन लाल उप्रेती,
प्राध्यापक हिन्दी विभाग,
बारहू सैनी कालेज, अलीगढ़

डॉ० शान्ति स्वरूप गुप्त,
रीडर, हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

डॉ० एन० चन्द्रशेखर नायर,
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
एन० एस० एस० कालेज,
ओट्टापालम्, केरल

डॉ० मानसिंह
रीडर, संस्कृत विभाग,
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला

श्री कृष्णदेव अग्रवाल,
११२, मजलिस पार्क, दिल्ली

1

ध्वनि-सिद्धान्त

डा० शिव शेखर मिश्र

ध्वनि शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम वैयाकरणों ने किया। आनन्दवर्धन के अनुसार प्रथम अथवा सर्वप्रमुख विद्वान् वैयाकरण हैं क्योंकि व्याकरण ही समस्त विद्याओं का मूल है —

"प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणा व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्"।[1]

विद्वान् वैयाकरण सुनाई देने वाले वर्णों के लिए ध्वनि शब्द का व्यवहार करते हैं —

'ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति'[2]

उन्हीं के मत का अनुसरण करने वाले आलङ्कारिकों अथवा काव्य-शास्त्रियों ने अपने यहां ध्वनि शब्द का प्रयोग किया। वैयाकरणों एवं आलङ्कारिकों के सिद्धान्तों के साम्य का आधार वैयाकरणों का 'स्फोटवाद' है। स्फोट शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है जिससे अर्थ की प्रतीति हो 'स्फुटति अर्थं यस्मात् स स्फोटः'। व्यक्त वर्णध्वनियों का तरंगों के रूप में प्रसार होता है। उच्चरित वर्ण की तरङ्ग कान के पर्दे से टकराकर वर्ण को पुनः उत्पन्न करती है और इस पुनरुत्पादित वर्ण को नाद कहते हैं, किन्तु समस्त उच्चरित वर्णों की तरंगें एक साथ कान तक नहीं पहुंचती

1 ध्वन्यालोक 1/13 की वृत्ति।
2. वही

हैं। वे उच्चारण के क्रम के अनुसार पहुंचती हैं। और उसी क्रम से नाद को उत्पन्न करती है। इसीलिए भर्तृहरि का कथन है कि नाद क्रमजन्मा है "नादस्य क्रमजन्यत्वात्"[3]। अब प्रश्न यह उठता है कि जब उच्चरित वर्णों की तरगें क्रमश उनसे सम्बन्धित नादो को उत्पन्न करती हैं तब वर्ण-समुदायरूप शब्द का ज्ञान कैसे होता है ? क्योकि बाद बाद के उच्चरित वर्णों की तरङ्गों के पहुँचने तक पूर्व-पूर्व उच्चरित वर्णों की तरगें नष्ट हो जाती हैं। उदाहरण के लिए 'गौ' पद मे तीन वर्ण है ग्, औ और विसर्ग। सर्वप्रथम ग् की तरग कान तक पहुँचेगी और जब तक 'औ' की तरग पहुँचेगी 'ग्' की तरग नष्ट हो जाएगी। इसी प्रकार विसर्ग की तरग पहुँचने तक 'औ' की तरग नष्ट हो जाएगी क्योकि किसी भी ध्वनि की स्थिति दो क्षण से अधिक नही रह सकती। इस प्रकार 'गौ' की एकान्वित रूप मे प्रतीति नही हो सकती। इसी का समाधान वैयाकरणो ने 'स्फोट' के रूप मे किया है।

स्फोट द्वारा शब्द की पूर्णता का बोध होता है और साथ ही साथ अर्थ का भी ज्ञान होता है। इसके अनुसार पूर्व पूर्व वर्णों के सस्कार से सहकृत अन्तिम वर्ण के उच्चारण से युक्त शब्द की प्रतीति होती है और उसी से अर्थ का भी बोध होता है। उदाहरणार्थ 'गौ' पद के ग् का उच्चारण करने के बाद 'ग्' नष्ट हो जाता है किन्तु उसका सस्कार रहता है। इसी प्रकार 'औ' का सस्कार रहता है और इन दोनो सस्कारो से सहकृत होते हुए विसर्ग के उच्चारण द्वारा 'गौ' पद की प्रतीति होती है। भर्तृहरि के अनुसार शब्द और अर्थ दोनो की प्रतीति समकालिक होती है।[4]

अभिनवगुप्त ने आनन्द-वर्धन के ध्वन्यालोक की टीका 'लोचन' मे वैयाकरणो के स्फोट सिद्धान्त तथा आलकारिको के ध्वनि सिद्धान्त मे परस्पर सामाञ्जस्य स्थापित करते हुए ध्वनि शब्द का पाँच अर्थों मे प्रयोग बतलाया है —

(1) ध्वनति य स व्यञ्जक शब्दो ध्वनि अर्थात् जो ध्वनित करता है ऐसा व्यञ्जक शब्द ध्वनि है।

3. वाक्यपदीय, कारिका 48।
4. वाक्यपदीय का० 93

(2) ध्वनति ध्वनयति वा यः स व्यञ्जकोऽर्थः ध्वनिः अर्थात् जो ध्वनित होता है अथवा ध्वनित कराता है ऐसा व्यंजक अर्थ ध्वनि है।
(3) ध्वन्यते इति ध्वनिः अर्थात् जो ध्वनित किया जाता है ऐसा व्यङ्ग्यार्थ ध्वनि है।
(4) ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः अर्थात् जिसके द्वारा ध्वनित किया जाता है। अथवा 'ध्वननं ध्वनिः' अर्थात् ध्वनन व्यापार ध्वनि है।
(5) ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः अर्थात् जिसमें ध्वनित कराया जाता है वह काव्य ध्वनि है।

इस प्रकार ध्वनि शब्द क्रमश: व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ, व्यंग्यार्थ, व्यञ्जना व्यापार तथा व्यङ्ग्यात्मक काव्य के लिए प्रयुक्त होता है। आनन्दवर्धन ने स्वयं कहा है कि उन्होंने इस ध्वनि सिद्धान्त का निरूपण वैयाकरणों के मत का आश्रय लेकर किया है, अतः उनमें विरोध और अविरोध का प्रश्न नहीं उठता

परिनिश्चितनिरपभ्रंशशब्दब्रह्मणा विपश्चिता मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽयं ध्वनिव्यवहार इति तैः सह किं विरोधाविरोधौचिन्त्येते"।[5]

प्राचीन आचार्यों की ध्वनिविषयक मान्यतायें

काव्य में ध्वनितत्त्व की मान्यता आनन्दवर्धन के पूर्व किसी न किसी रूप में वर्तमान थी जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है

"काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति यः समाम्नातपूर्वः"।[6]

यहाँ पर 'समाम्नातपूर्वः' की वृत्ति करते हुए आनन्दवर्धन स्वयं कहते हैं

'परम्परया यः समाम्नातपूर्वः सम्यक् आ समन्तात् म्नातः प्रकटितः, अर्थात् जिस (ध्वनितत्त्व) को परम्परागत रूप में भली प्रकार बार-बार प्रकट किया गया है। इससे स्पष्ट है कि काव्य में ध्वनितत्त्व पहले से ही स्वीकार किया जा चुका था किन्तु उसका निश्चित स्वरूप निर्धारित नहीं हो सका था।

प्राचीन आचार्यों की ध्वनि-विषयक मान्यताओं के विरोध में कुछ प्रतिक्रियायें थीं। इन प्रतिक्रियावादियों की तीन श्रेणियां हैं

(1) अभाववादी जो ध्वनि का अभाव मानते थे 'तस्याभावं जगदुरपरे'

5. ध्वन्यालोक 3.33 की वृत्ति।
6. ध्वन्यालोक 1.1

(2) भाक्तवादी जो ध्वनि का भक्ति अथवा लक्षणा मे अन्तर्भाव मानते थे 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' ।
(3) अनिर्वचनीयतावादी जो ध्वनि को एक अनिर्वचनीय तत्त्व मानते थे केचिद् वाचा स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयम्' ।

अभाववादी

अभाववादियो की तीन सम्भावित कोटियाँ है

(क) कुछ अभाववादीयो का कथन है कि शब्द और अर्थ द्वारा काव्य के शरीर का निर्माण होता है। काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ का चारुत्व दो प्रकार से सम्भव है—एक स्वरूपगत दूसरे सघटनागत। शब्द का स्वरूपगत चारुत्व अनुप्रासादि अलकारो द्वारा सम्भव है और अर्थ का स्वरूपगत चारुत्व उपमादि अलकारो के रूप मे प्रसिद्ध है। सघटनागत चारुत्व वर्णसघटना के धर्म माधुर्यादिगुणो के रूप मे प्रकट होता है। गुणो से अभिन्न उपनागरिका आदि वृत्तियाँ तथा वैदर्भी आदि रीतियाँ प्रसिद्ध ही हैं। अत इन सबसे भिन्न ध्वनि नाम का कौन सा नया तत्त्व है।

(ख) कुछ अभाववादी कह सकते हैं कि ध्वनि है ही नही 'नास्त्येव ध्वनि । परम्परागत मार्ग का अतिक्रमण करने वाले किसी नवीन काव्य का स्वीकार करने से काव्यत्व की हानि होगी। सहृदयो के हृदयो को आह्लादित करने वाले शब्द और अर्थ से युक्त होना ही काव्य का लक्षण है सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्य-लक्षणम् । कतिपय व्यक्तियो को स्वेच्छया सहृदय मानकर उन्ही के अनुसार कल्पित ध्वनि मे काव्यत्व स्वीकार करने से सब विद्वानो को मान्य नही हो सकता।

(ग) अन्य अभाववादी कह सकते है कि ध्वनि नाम का कोई अपूर्व पदार्थ सम्भव ही नही है—'न सम्भवत्येव ध्वनिर्नामापूर्वं कश्चिद्' । कोई भी कमनीय काव्य हो, उसका अन्तर्भाव उक्त गुण अलकारादि चारुत्व हेतुओ में ही हो जायगा। यदि उन्ही गुण, अलकारादि मे से किसी का नाम ध्वनि रख दिया जाय तो यह बडी तुच्छ बात होगी। इसके अतिरिक्त कथन शैलियों के रूप मे वाणी के अनन्त विकल्प

होने के कारण यदि कोई प्रकारलेश प्रसिद्ध लक्षणकारों द्वारा प्रदर्शित करने से रह गया हो, उसे ध्वनि-ध्वनि कह कर सहृदयत्व की भावना का प्रदर्शन करते हुए आँखे बन्द करके नर्तन किया जाय तो उसमें कोई हेतु प्रतीत नही होता। अनेक महात्माओ ने सहस्रों प्रकार के काव्यालंकारो को प्रकाशित किया है और कर रहे हैं किन्तु किसी की इस प्रकार की दशा नही सुनाई पड़ती। अतः ध्वनि प्रवादमात्र है। ध्वनिविरोधी मनोरथ कवि का कथन है

यस्मिन्नस्ति न वस्तु किंचन मनः प्रह्लादि सालंकृति
व्युत्पन्नै रचितं न चैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्।
काव्यं तद् ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसन् जडो
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः॥

अर्थात् जिसमें अलंकार से युक्त मन को आनन्दित करने वाली कोई वस्तु नहीं है, जो विद्वत्तापूर्ण वचनो तथा सुन्दर उक्तियों से शून्य है उस काव्य को ध्वनियुक्त मानकर प्रीति से प्रशंसा करता हुआ मूर्ख, किसी बुद्धिमान् द्वारा पूछे जाने पर पता नही ध्वनि का क्या स्वरूप बतलायेगा

भाक्तवादी

कुछ विद्वान् ध्वनि नामक काव्य को भक्त अथवा भक्ति से गृहीत मानते हैं। आलंकारिकों के अनुसार भक्ति का अर्थ लक्षणा है। उनके अनुसार लक्षणा के तीन बीज हैं

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।[7]

अर्थात् मुख्यार्थ बाध, उस मुख्यार्थ के साथ अन्य अर्थ का सम्बन्ध तथा रूढि अथवा प्रयोजन। जैसे 'गंगायां घोषः' मे गंगा पद के (जलप्रवाह रूप) मुख्यार्थ में घोष (अहीरों की बस्ती) सम्भव न होने से मुख्यार्थ का बाध होता है, अतः सामीप्य सम्बन्ध से तट (अर्थ) का बोध होता है। पुनः प्रयोजन के आधार पर शैत्यपावनत्वादि धर्मों की प्रतीति होती है। लक्षणा के इन तीन बीजों का बोध कराने के लिए भक्ति शब्द की तीन

7. काव्यप्रकाश 219।

प्रकार की व्युत्पत्तियाँ की गई हैं :

(1) मुख्यार्थस्यभङ्गो भक्ति इससे मुख्यार्थ का बोध होता है।
(2) भज्यते सेव्यते पदार्थेन इति सामीप्यादिधर्मो भक्ति इससे तद्योग अर्थात् सामीप्यादि सम्बन्ध का बोध होता है।
(3) प्रतिपाद्ये शैत्यपावनत्वादौ श्रद्धातिशयो भक्ति इससे श्रद्धातिशय के रूप मे शैत्यपावनत्वादि धर्म प्रयोजन के रूप मे सूचित होते [redacted]।

मीमासको ने गौणी के रूप मे लक्षणा से भिन्न एक स्वतन्त्र वृत्ति स्वीकार की है। इस अर्थ के बोध के लिए भक्ति शब्द की चौथी व्युत्पत्ति की गई है

(4) गुणसमुदायवृत्ते शब्दस्य अर्थभागस्तैक्ष्ण्यादि (शौर्यक्रौर्यादि) भक्ति तत आगतो भाक्त 'सिहो माणवक' मे तैक्ष्ण्य अथवा शौर्यक्रौर्यादि गुणो से विशिष्ट सिह पद से शौर्यक्रौर्यादि का ग्रहण भक्ति है और उससे प्राप्त अर्थ भाक्त है। जिस प्रकार ध्वनिशब्द से शब्द, अर्थ और व्यापार तीनो का बोध होता है उसी प्रकार गुणवृत्ति शब्द भी तीनो का बोध कराता है

(1) गुणा सामीप्यादयो धर्मास्तैक्ष्ण्यादयश्च तैरुपायैर्वृत्तिरर्थान्तरे यस्य (शब्दस्य)। यहा शब्द का बोध होता है।
(2) तैरुपायैर्वृत्तिर्वा शब्दस्य यत्र स गुणावृत्ति (अर्थ)। यहां अर्थ का बोध होता है।
(3) गुणद्वारेण वा वर्तन गुणवृत्तिरमुख्याभिधाव्यापार। यहां व्यापार का बोध होता है। ध्वनि एव गुणवृत्ति के इसी साम्य के आधार पर ही कुछ लोग ध्वनि को गुणवृत्ति मानते हैं

"अन्ये ते ध्वनिसज्ञित काव्यात्मान गुणवृत्तिरित्याहु"[8]

अनिर्वचनीयतावादी

कुछ अप्रगल्भमति वाले ऐसे हो सकते हैं जो ध्वनि के अस्तित्व को स्वीकार करते हुये भी उसे अलक्षणीय, अनिर्वचनीय अथवा वाणी से परे तथा केवल सहृदयहृदयसवेद्य मानें।

[redacted] ध्वन्यालोक 3.33 की वृत्ति।

ध्वनि का स्वरूप

ध्वनिविरोधी मतों को प्रस्तुत करने के बाद आनन्दवर्धन ध्वनि के स्वरूप का निरूपण करते हैं। उनके अनुसार ध्वनि का लक्षण इस प्रकार है

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥[9]

अर्थात् जहाँ अर्थ (वाच्यार्थ) अपने को अथवा शब्द अपने अर्थ (वाच्यार्थ) को गौण करके उस अर्थ (प्रतीयमान) को व्यक्त करे उस काव्यविशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है।

इनमें से वाच्यार्थ तो प्रसिद्ध ही है जिसका पूर्व लक्षणकारों ने उपमा आदि के रूप में व्याख्यान किया है

तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः।
बहुधा व्याहृतः सोऽन्यैः ....॥[10]

किन्तु महाकवियों की वाणियों में प्राप्त प्रतीयमान अर्थ कुछ और ही वस्तु है जो अलंकारादि प्रसिद्ध अवयवों से भिन्न है और अङ्गनाओं के लावण्य की भांति प्रतीत होता है

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥[11]

यही प्रतीयमान अथवा व्यङ्ग्यार्थ काव्य की आत्मा है

'काव्यस्यात्मा स एवार्थः ....'[12]

इस प्रकार काव्य के सभी भेदों में अङ्गीरूप में जो व्यङ्ग्यार्थ की स्फुट प्रतीति होती है वही ध्वनि का पूर्ण लक्षण है

सर्वेष्वेव प्रभेदेषु स्फुटत्वेनावभासनम्।
यद् व्यङ्ग्यस्याङ्गिभूतस्य तत्पूर्णं ध्वनिलक्षणम् ॥[13]

9. ध्वन्यालोक 1:13।
10. ध्वन्यालोक 1:3।
11. वही 1:4।
12. वही 1:5।
13. वही 2:33।

ध्वनि के भेद

ध्वनि के दो प्रमुख भेद हैं

(1) अविवक्षितवाच्य अथवा लक्षणामूलक ध्वनि इसे अविवक्षितवाच्य इसलिये कहते हैं कि इसमें वाच्यार्थ विवक्षित नहीं रहता अथवा यों कहें कि वाच्यार्थ बाधित होता है और उसके द्वारा तात्पर्य की सिद्धि नहीं होती। अतः वह स्पष्ट रूप से लक्षणा के आश्रित रहती है। इसीलिये इसे लक्षणामूला ध्वनि भी कहते हैं।

(2) विवक्षितान्यपरवाच्य अथवा अभिधामूला ध्वनि। इसे विवक्षितान्यपरवाच्य इसलिए कहते हैं कि इसमें वाच्यार्थ विवक्षित होते हुये भी अन्यपरक अथवा व्यङ्ग्यपरक होता है। यह ध्वनि अभिधा पर आश्रित है। इसमें वाच्यार्थ का अस्तित्व रहते हुये भी वह व्यंग्यार्थ की प्रतीति के माध्यम के रूप में रहता है।

अविवक्षितवाच्य अथवा लक्षणामूला ध्वनि के भेद :

इसके दो भेद हैं (1) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य (2) अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य।

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य उसे कहते हैं जहाँ वाच्यार्थ स्वयं बाधित होकर अन्य अर्थ में परिणत हो जाय। उदाहरणार्थ

तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि-कमलानि॥

अर्थात् गुण तब होते हैं जब वे सहृदयों द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। सूर्यरश्मियों द्वारा अनुगृहीत कमल ही कमल होते हैं। यहां पर दूसरा कमल शब्द सामान्य कमल के अर्थ का बोध न कराता हुआ लक्षणा द्वारा लक्ष्मीभाजनत्वादि गुणविशिष्ट होने के कारण अर्थान्तरसंक्रमित है और चारुत्वातिशय रूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति कराता है।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि उसे कहते हैं जहाँ वाच्यार्थ हेय अथवा त्याज्य होता है। उदाहरणार्थ आदि कवि वाल्मीकि का हेमन्त वर्णन का निम्नलिखित श्लोक

रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते॥

अर्थात् जिसकी शोभा सूर्य में सङ्क्रान्त है ऐसा तुषाराच्छादित चन्द्रमा निश्वास से मलिन दर्पण की भांति प्रकाशित नहीं हो रहा है। यहां पर 'अन्ध' शब्द अपने नेत्रहीनता अर्थ को छोड़कर लक्षणा द्वारा अप्रकाश अर्थ का बोध कराता हुआ व्यञ्जना द्वारा अप्रकाशातिशय अर्थ की अभिव्यक्ति कराता है।

विवक्षितान्यपरवाच्य अथवा अभिधामूला ध्वनि

इसके दो भेद हैं—असंलक्ष्यक्रम तथा संलक्ष्यक्रम। असंलक्ष्यक्रम से तात्पर्य उस ध्वनि से है जहां पर वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में क्रम होते हुए भी वह इतना सूक्ष्म रहता है कि स्पष्ट रूप से प्रतिभासित नहीं होता है। रस के रूप में सारा प्रपञ्च इसी के अन्तर्गत समाविष्ट है। संलक्ष्यक्रम ध्वनि में वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ का क्रम स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। वस्तु ध्वनि तथा अलङ्कारध्वनि इसी के अन्तर्गत आते हैं।

मूल रूप में ध्वनि के यही मुख्य भेद हैं। अवान्तर भेदों का उल्लेख करते हुए अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की लोचन टीका में ध्वनि के ३५ भेदों की गणना की है।[14] मम्मट ने काव्यप्रकाश में ५१ शुद्ध तथा १०४०४ मिश्र भेदों की कल्पना की है। आनन्दवर्धन के शब्दों में ध्वनि के अनन्त भेद हैं "अनन्ता हि ध्वनेः प्रकाराः"।[15] उनकी गणना कौन कर सकता है। केवल संकेत किया गया है

एवं ध्वनेः प्रभेदाः प्रभेदभेदाश्च केन शक्यन्ते।
संख्यातुं दिङ्मात्रं तेषामिदमुक्तमस्माभिः ॥[16]

14. ध्वन्यालोक 3.1 पर लोचन टीका
15. ध्वन्यालोक 3.45 की वृत्ति।
16. ध्वन्यालोक 2.33।

2

काव्यशास्त्र में प्रागानन्दवर्द्धन ध्वनितत्व

डा० राममूर्ति त्रिपाठी

ध्वनिप्रस्थापक परमाचार्य आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि का इतिहास प्रस्तुत करते हुए कहा है कि महाप्रज्ञ वैयाकरणो ने उसका सम्यक् आम्नान या व्याख्यान,[1] बहुत ही पहले कर दिया था, पर उनके अनुयायी आलङ्कारिको ने उस सूक्ष्मेक्षिका का पर्याप्त पल्लवन नही किया। वैयाकरणो के स्फोट सिद्धान्त मे ध्वनि सिद्धान्त के अनुरूप पर्याप्त सूक्ष्म सकेत विद्यमान है।

स्फोट सिद्धान्त वैयाकरणो का सुप्रसिद्ध सिद्धान्त है। पातञ्जल महाभाष्य का व्याख्या के प्रसग मे प्रदीपकार[2] कैयट ने कहा है कि स्फोट सिद्धान्त का सविस्तार विचार वाक्यपदीय मे किया गया है। वाक्यपदीय मे स्फोटग्रहण मे उपयोगी ध्वनि के दो[3] रूप-प्राकृत एव वैकृत किए गए हैं। प्राकृतिक ध्वनि वह है जिससे उपरक्त होकर परिछिन्न रूप मे खण्ड रूप मे—स्फोटात्मक शब्द का ग्रहण होता है और वैकृत ध्वनि वह जिसके कारण खण्ड स्फोट मे द्रुतत्व, विलम्बितत्व, ह्रस्वत्व एव दीर्घत्व जैसे स्थिति भेद की प्रतीति होती है। ध्वनि की इस द्विरूपता की चर्चा सग्रह-

1 "काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः"—ध्वन्यालोक, प्र० उ०

2. पातञ्जल—"स्फोटा नर्थाभिव्यङ्ग्यो वाचको विस्तरेण वाक्यपदीये व्यवस्थापित" महाभाष्य—पृष्ठ 11

3. वाक्यपदीय—(सरस्वती भवन ग्रन्थमाला) प्रथम भाग—पृ० 147

कार व्याडि ने भी की है। उन्होने कहा है—

शब्दस्य ग्रहणे हेतु प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
स्थितिभेदे निमित्तत्व वैकृत प्रतिपद्यते॥[4]

निश्चय ही इस विवेचन मे भी प्राकृत ध्वनि शब्द ग्रहण मे निमित्त मानकर यह सकेतित किया गया है कि ध्वनि एवम् शब्द मे अन्तर है। वैयाकरणो ने इसी ध्वनि ग्राह्य शब्द को ही स्फोट कहा है। 'स्फोट' शब्द का प्रयोग व्याडि ने किया था या नही—इसका तो पता नही चलता, पर उससे जो ध्वनिप्रकाश्य अर्थ गृहीत होता है—उसकी स्थिति उन्होने अवश्य स्वीकार की है। लगता है कि उन दिनो स्फोटस्थानीय सज्ञा 'शब्द' ही प्रचलित था। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी परपशाह्निक म 'ध्वनि' और शब्द को भिन्नार्थक रूप मे प्रयुक्त किया है।[5] व्याकरणो के विरोध मे मीमासकप्रवर उपवर्ष ने भी कहा है– वर्णा एव तु शब्द।'[6] अर्थात् जहाँ वैयाकरण स्फोटात्मक शब्द को अखण्ड स्वीकार करते हैं—ध्वन्युपरक्त खण्ड रूप मे गृहीत करते हैं वहाँ मीमासक उस शब्द को, ध्वनिप्रकाश्य शब्द को—वर्णात्मक ही मानना चाहते हैं। इस लम्बी चर्चा का निष्कर्ष यह कि जिस माध्यम से अर्थ ग्रहण होता है, वह शब्द' ध्वनि या नाद से प्रकाश्य है। इस प्रकार ध्वनि और शब्द मे अन्तर है। वैयाकरण इसी ध्वनि-प्रकाश्य शब्द' का स्फोट कहते हैं। अभिप्राय यह कि स्फोट' शब्द से जिस अर्थतत्व की ओर सकेत किया जा रहा है वह अपने अस्तित्व मे काफी पुराना है। मीमासक उसी का विरोध करते हुए स्फोट की जगह वर्ण का अस्तित्व स्वीकार करते है। निष्कर्ष यह कि 'स्फोट शब्द चाहे जब प्रयुक्त होने लगा हो पर उससे अभिप्रेत अर्थ का अस्तित्व ई० पू० शताब्दी मे ही आ चुका था। व्याकरणो ने जिस प्रकार पर्याप्त विवेचन से यह तय किया है कि मध्यमा नाद द्वारा ध्वनि स्फोट का व्यजक है[7] —उसी प्रकार ध्वनि सिद्धान्त मे भी वाच्य एवम् वाचक प्रतीयमान अर्थ के व्यजक मान गए हैं और व्यजकत्व साम्यवश उन्हे भी ध्वनि कहा गया है। निष्कर्ष यह कि

4. —वही—"एवहि सग्रहकार पठति"—उद्धृत पृ० 148
5 महाभाष्य—' ज्वलति आकाशेन शब्द "
6 प्रचलित एव अनेकत्र उद्धृत
7. लघुमञ्जूषा

जहाँ तक साहित्यशास्त्र में 'ध्वनि' शब्द का सम्बन्ध है—वह वैयाकरणों से उधार लिया गया है। इतना अवश्य है कि साहित्यशास्त्र में 'ध्वनि' शब्द 'व्यञ्जकत्वसाम्यात्'[8] गौणी लक्षणा से अभिमत अर्थ में प्रयुक्त होता है। जो भी हो, ध्वनि सिद्धान्त के मूल संकेत का स्रोत वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त में निहित बताया गया है।

इसके पूर्व कि मैं स्वयं प्रागानन्दवर्द्धन काव्यशास्त्र में ध्वनितत्व का इतिहास निरूपित करूँ—अभिनवगुप्त के अनुसार उसकी स्थिति परिलक्षणीय है। उन्होंने कहा है कि भामह ने अपनी एक कारिका में 'शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्थम्' कहा है। उद्भट ने (सम्भवतः अपने भामह-विवरण में) इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि भामह इस प्रयोग से केवल अभिधा वृत्ति का ही नहीं कथन करते प्रत्युत गुणवृत्ति को भी अन्तर्गर्भ समझते हैं।[10] लक्षणावृत्ति में जिस अनन्यथा प्रकाश्य प्रयोजनांश का अस्तित्व है—वह लक्षक शब्द के अतिरिक्त सामर्थ्य से—अर्थात् व्यंजना से—ही प्रकाश्य है। वह अतिरिक्त अर्थ व्यंग्य या प्रतीयमान अर्थ है और तदर्थ किया गया व्यापार व्यंजना है। इस प्रकार भामह से ही दबे—खुले क्षीण काय स्वर में व्यंग्यार्थ स्वीकृति की झलक विद्यमान है। इसके अतिरिक्त ध्वनिवादियों ने जिन सौन्दर्यस्थानों में ध्वनितत्व की स्थिति प्रतिपादित की है—उनका उल्लेख और अस्तित्व तो है ही—यह बात दूसरी कि विवेचन-प्रतिभा की कमी के कारण उन लोगों ने विवेकपूर्वक उसकी पृथक् सत्ता घोषित नहीं की।

जैसाकि ऊपर कहा गया है—आनन्दवर्द्धनपूर्व से काव्यशास्त्र में भामह से वामन तक अनेक विचारक और उनके द्वारा उदाहृत सौन्दर्य-स्रोतों में ध्वनिवादियों की दृष्टि में ध्वनि या व्यंजना का अस्तित्व है। प्रस्तुत प्रसंग में सवाल इस बात का नहीं है कि प्रागानन्दवर्द्धन ध्वनिवादियों की दृष्टि में ध्वनितत्व का अस्तित्व था या नहीं, सवाल इस बात का है कि प्रागानन्दवर्द्धन आचार्यों ने किसी भी रूप में इस तत्व का संकेत देना चाहा है या नहीं?

प्रागानन्दवर्द्धन काव्यशास्त्र की आज सर्वप्रथम उपलब्ध कृति है—भामह

8 काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास। ध्व शास्त्र प्र० ३०
9 ध्वन्यालोक लोचन
10 वहीं—"शब्दानामभिधानमभिधा व्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च"

का काव्यालकार। काव्यालकार अथवा प्रागानन्दवर्द्धन कृतियो मे कृतिकारो या आचार्यों द्वारा ध्वनितत्व की दिशा मे कितनी दूर तक कदम उठाया जा सका—उसका सधान पाने के लिए यह स्पष्ट समझ लेना है कि आनन्दवर्द्धन ने ध्वनितत्व की स्थापना किस सन्दर्भ मे की ? किस जिज्ञासा की पूर्ति इस तत्व के आविष्कार अथवा प्रतिष्ठापन से हुई ? उस लक्ष्य अथवा उस जिज्ञासा की दिशा मे उन पूर्ववर्ती विचारको ने भी कुछ सोचना-कहना आरम्भ किया था अथवा नहीं ? आदवर्द्धन ने ध्वनि अथवा व्यञ्जकत्व 'शब्द के अतिरिक्त (व्यजना-क्षमता) की खोज' काव्यात्मभूत सौन्दर्य या रस के मूल निमित्त की समस्या पर सोचते हुए की। शब्दार्थ तभी काव्य सज्ञा पद पर अभिषिक्त होता है—जब वह लोकोत्तर अथवा काव्योचित सौन्दर्य से मण्डित हो। मूल समस्या यही थी कि काव्य का केन्द्रीयतत्व सौन्दर्य अव्यभिचरित रूप मे किससे सबद्ध है ? आनन्द ने स्पष्ट कहा है—"शब्द विशेषाणां अन्न चान्यन्न च चारुत्वपद् विभागेनोपदर्शित तदपितेषां व्यजकत्वे नैवावस्थितमित्यवगन्तव्यम्"[11] अर्थात् विशिष्ट शब्दो मे चारुता यहा वहा लक्षित होती है। उसका मूल कारण व्यजकत्व है।

इस प्रकार यह निश्चित है कि काव्यतत्व सौन्दर्य का अव्यभिचरित सबध काव्यात्मक शब्द की व्यजकता से है—अर्थात् जहाँ जहा शब्द मे व्यजकता होगी—वही वही काव्योचित सौन्दर्य का प्रस्फुटन होगा। अब स्पष्ट देखा जा सकता है कि काव्योचित चारुता की दिशा मे प्रागानन्दवर्द्धन आचार्यों ने क्या सोचा है—काव्य एवम् शास्त्र—उभय साधारण समय से अतिरिक्त शब्द का किस क्षमता की ओर इन लोगो ने आँख उठाई है ?

भामह ने भी 'काव्यालकार' मे काव्योचित 'चारुता' की दिशा मे सोचा है और इसी दिशा मे सोचते हुए कहा है—

'न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम् ।...[12]
वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलकृति ॥

अर्थात्—केवल नितान्त (वह नितान्त सुन्दर है) शब्द प्रयोगो पर केवल सौन्दर्य की अभिव्यजना नही की जा सकती—वाणी मे सौन्दर्य का समुन्मेष

11. ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, चौखम्भा प्रकाशन, पृ० 358
12 काव्यालंकार (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्) पृ० 18 प्रथम परिच्छेद।

नहीं किया जा सकता। इसके लिए आवश्यक यह है कि शब्द और अर्थ का सपाट या अभिधा के स्तर का प्रयोग न किया जाय, प्रत्युत उसे वक्र या काव्योचित ढंग से रखा जाए। भामह कवि उसे ही मानते हैं—जो 'वक्रवाक्' हो—

"वक्रवाचा कवीना य प्रयोग प्रति साधव "[13]—से यही तो स्पष्ट होता है। वे मानते है कि अर्थ और शब्द का वक्र प्रयोग ही वाणी के सौन्दर्य के लिए सक्षम है—

"वाचा वक्रार्थशब्दोक्तिरलकाराय कल्पते"[14]

अपने आशय को और भी स्पष्ट करते हुए भामह ने कहा—

"गतोऽस्तमर्को भातीन्दु यान्ति वासाय पक्षिण ।
इत्येवमादि किं काव्यम् ? वार्तामिनाप्रचक्षते ॥"[15]

अर्थात् सूर्य डूब गया, चाँद चमक रहा है, पक्षिगण अपने-अपने घर की ओर वास के निमित्त लौट रहे हैं—इन अभिधेयार्थमात्र पर्यवसायी सपाट उक्तियों को काव्य कौन कहेगा ? इसे तो काव्य के विपरीत "वार्ता' कहना उचित है। यद्यपि दण्डी ने अपने काव्यादर्श में ठीक इन्ही प्रयोगो मे काव्यत्व देखा है। ज्ञापक हेतु अलकारसम्पन्न काव्य का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा—

"गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिण ।
इतीदमपि साध्वेव कालावस्थानिवेदने ॥"[16]

लगता है जैसे भामह का प्रतिवाद किया गया हो। ध्यान देने पर यह प्रतिवाद लगता नहीं, बल्कि इसे भी काव्य मानने का अन्यथा उपपादन किया गया है। दण्डी ने स्पष्ट ही कहा है कि ये वाक्य भी सौन्दर्यमण्डित होने के कारण काव्य हो सकते हैं—शर्त यह है कि वाच्यार्थ से अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ की ओर भी इनसे सकेत हो रहा हो। यों सपाट कथन की ओर अगुली उठाते हुए उन्होंने कहा है—

13 —वही—पृ॰ 154
14. —वही—पृ॰ 140
15. —वही—पृ॰ 63
16. काव्यादर्श (चौखम्बा) पृष्ठ 168 श्लोक 244

अहृद्यतु निष्ठीवति वधूरिति"[17]

वधू थूक रही है—यह कथन अहृद्य है—असुन्दर है—फलत इसे काव्य नही कहना चाहिए।

दण्डी ने भी सोचा कि विदग्ध जन सपाट अर्थ से नही, लोकातिक्रान्त भगिमा मण्डित अर्थ से ही सन्तुष्ट होते है। यह लोकातिक्रान्त भगिमा अथवा सौन्दर्य कैसे उत्पन्न हो—दण्डी ने इस दिशा मे सोचते हुए समाधि नाम के गुण की चर्चा की और कहा कि उसका सहारा लेने से शब्दार्थ, काव्य सज्ञा पाने के अधिकारी हो जाते हैं।

तदेतद् काव्यसर्वस्व समाधिर्नाम यो गुण ।
कविसार्थ समग्रोऽपि तमेनमनुगच्छति ॥"[18]

काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से समाधि नाम का गुण काव्य सर्वस्व है। यही कारण है कि कवि मात्र इस गुण का सहारा लेते हैं। इसके ही कारण सामान्य शब्दार्थ काव्योचित वैशिष्ट्य से मण्डित हो जाता है—उक्ति वक्र हो जाती है—जो कुछ कहना वह सीधा और सपाट नही, अभिधेय नही, अपितु और ही है। इस "कुछ और" की ओर इन आचार्यों की भी दृष्टि थी—शब्दार्थ की अतिरिक्त क्षमता की ओर इनके भी विचार सक्रिय थे।

'काव्यालकारसारसग्रह' के प्रणेता उद्भट ने 'पर्यायोक्त अलकार' के प्रसग मे इस भगिमा का और भी स्पष्टीकरण किया। उसने कहा—

"पर्यायोक्त यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।
वाच्यावाचकवृत्तिभ्या शून्येनावगमात्मना ॥[19]

पर्यायोक्त मे भी सपाट कथन नहीं होता, बल्कि जो कुछ अभिप्रेत रहता है उसे अन्यथा ही प्रकाशित किया जाता है। इसीलिए उद्भट ने कहा कि पर्यायोक्ति मे वाच्य वाचक वृत्ति (अभिधा) से शून्य अवगमात्मक व्यापार द्वारा कवि अपनी बात कहना चाहता है। इनके टीकाकार प्रतीहारेंदुराज ने इसे और भी स्पष्ट करते हुए इस अवगमन व्यापार को ध्वनन व्यापार का पर्याय ही कह दिया है यह बात दूसरी है कि बाद मे व्यजकत्व या ध्वनि नामक इस काव्य सौन्दर्य स्रोत धर्म का अन्तर्भाव पुन अलकारो

17. काव्यादर्श (चौखम्भा) पृ० 16० 67
18 —वही, प्रथम परिच्छेद 100 वीं कारिका, पृष्ठ 69
19 काव्यालकार-सार-सग्रह और लघुवृत्ति की व्याख्या—पृ० 359

मे ही करने की निरर्थक चेष्टा की है। इस प्रकार भामह और दण्डी के अतस् मे गुडगुडायमान ध्वनि तत्व उद्‌भट तक आकर नामान्तर से प्रकट हो ही गया। वामन ने भी उक्ति म वक्रता लाने के लिए अभिधा को नही लक्षणा (सादृश्याश्रित) को ही महत्वपूर्ण माना जिसके विमर्दन से व्यजना की सुगन्ध प्रवाहित होती है। उन्होने कहा है—

सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति "[20]

निष्कर्ष यह कि प्राणानन्दवर्द्धन समस्तकाव्यशास्त्रियो के मन म यह बात उमड रही थी कि सपाट अर्थ म काव्योचित सौन्दर्य नही होता—जब तक शब्द के अभिधातिरिक्त सामर्थ्य मे किसी अन्य अभिप्रेतार्थ की सौन्दर्य रश्मि फूटती हुई लक्षित नहीं होती। इसके लिए जिस व्यजकत्व या ध्वनन की अपेक्षा है—उसकी चतुष्पाद प्रतिष्ठा आनन्द ने की।

शब्दार्थ के प्रसग मे व्यजना, व्यज्यते प्रतीयते, प्रतीयमान, गम्यते—आदि शब्दो का भी प्रयोग पहले से होता चला आ रहा था, किन्तु तब इनका कोई निर्धारित रूप नही था। भामह ने स्पष्ट कहा है—

हि शब्देनापि हेत्वर्थप्रथनादुक्तसिद्धये।
अयमर्थान्तरन्यास सुतरा व्यज्यते-यथा॥
यत्रोक्तेर्गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत् समानविशेषण।
सा समासोक्तिरुद्दिष्टा सक्षिप्तार्थतया यथा॥ [21]

पहले श्लोक मे 'व्यज्यते' तथा दूसरे मे गम्यते का प्रयाग है। आगे चल कर आलकारिक सम्प्रदाय ने 'हि' को अर्थान्तरन्यास का वाचक ही मान लिया और और इसका कारण रूढि ही हो सकती है—अन्यथा 'हि' अर्थान्तरन्यास का द्योतक नही हो सकता है। 'गम्यते' प्रयोग, जो उपर्युक्त दूसरे श्लोक मे है—स्पष्ट ही अनभिधेय अर्थ की प्रतीति के लिए आया हुआ है। इतना ही नही, भामह ने तो वैयाकरणो की परम्परा मे स्पष्ट ही कहा है—

"स कूटस्थोऽनपायीच नादादन्यश्च कथ्यत ' [22]

अर्थात् वह स्फोटात्मक शब्द ध्वन्यात्मक नाद से भिन्न है—ध्वन्यात्मक

20 काव्यालकारसूत्रवृत्ति
21 काव्यालकार (भामह) पृ० 28 श्लोक 73
22 काव्यालकार (भामह) पृ० 79।

नाद से भिन्न है—ध्वन्यात्मक नाद से अभिव्यग्य है। अभिप्राय यह कि स्फोट के प्रसग मे प्रयुक्त ध्वनि और शब्द का अभिव्यग्य—अभिव्यजकभावसम्बन्ध अलकारिको मे भामह से भी समादृत दिखाई पडता है।

व्यजन या व्यजित शब्द का प्रयोग तो नाट्यशास्त्रकार ने भी प्रकात अर्थ के आस-पास किया है। वे कहते ही हैं — नानाभावव्यञ्जितान् वागङ्गसत्वोपेतान् स्थायिभावान् आस्वादयन्ति सुमनस प्रेक्षका [23] स्पष्ट—है कि प्रेक्षक—आस्वाद्य स्थायीभाव नानाविध भावो से जब व्यजित होते है—तो अभिधात्मक सामर्थ्य से नही। दूसरे भाव शब्द है भी नही जो उनमे अभिधात्मक सामर्थ्य होगा।

इसी प्रकार दण्डी ने भी अपने काव्यादर्श मे अनेकश इन शब्दो का प्रयोग किया है उदाहरण लें—

व्यक्तिरर्क्तिक्रमबलाद्गभीरस्यापि वस्तुन [24]

गम्भीर वस्तु की व्यक्ति मात्र अभिधा से ही हो जाय तो वह गभीर ही किस प्रकार हो सकेगी। अत व्यक्ति शब्द अभिधा से भिन्न अर्थ मे ही होना चाहिए। इसी प्रकार—

मन्ये शङ्के ध्रुव प्रायो नूनमित्येवमादय ।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिव शब्दोऽपि तादृश ॥

तथा —

शब्दोपात्तसादृश्यव्यतिरेकोऽयमीदृश ।
प्रतीयमानसादृश्योऽप्यस्ति सोऽप्यत्राभिधीयते ॥

उक्त श्लोको मे व्यज्यते एव प्रतीयमान शब्द भी इस प्रसग म उल्लेखनीय है। अर्थातरन्यास मे हि की भाँति आगे चलकर उक्त शब्द भी उत्प्रेक्षा के वाचक ही मान लिए गए। इसीलिए इन शब्दो के विषय मे ऊपर कहा गया है कि प्रागानन्दवर्द्धन काव्यशास्त्र मे इस प्रकार के शब्द जहाँ भी प्रयुक्त हुए हैं—उनका अर्थ उस प्रकार निर्धारित नही है जिस प्रकार *आनन्दवर्द्धन अथवा उनके बाद के ध्वनिवादी काव्यशास्त्रियो द्वारा प्रयुक्त* होने पर इन्ही शब्दों का अर्थ निश्चित है। परवर्ती श्लोक म शब्दोपात्त' के

23 नाट्यशास्त्र—छठा अध्याय पृ० 71 (चौखम्भा)
24 काव्यादर्श—पृ० सख्या 221 श्लोक सख्या 366

विपक्ष में जब 'प्रतीयमान' का उल्लेख मिलता है तब उसमें अवश्य अभिधेय अर्थ से भिन्न होने की संभावना होती है।

भामह और दण्डी के अनन्तर वामन में तो इस प्रकार के शब्द प्राय: नहीं मिलते, लेकिन उन्हीं के समसामयिक उद्भट में, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है—'अवगम' शब्द निर्भ्रान्त रूप से 'व्यंजन' का समकक्ष प्रतीत होता है।

इस प्रकार अन्तत प्रागानन्दवर्द्धन 'ध्वनितत्त्व' पर विचार करते हुए यही कहा जा सकता है कि काव्य के केन्द्रीय तत्त्व सौन्दर्य के मूल स्रोत पर पहले से विचार होता चला आ रहा था और उस सन्दर्भ में एक प्रकार की आकुलता लक्षित होती है। भामह, दण्डी उद्भट एवं वामन सभी सपाट अथवा उत्तानार्थक शब्दों में ही काव्यत्व स्वीकार करते हैं। इस प्रकार शब्दार्थ काव्यपद पर तभी अभिषिक्त होता है जब अनिर्दिष्ट सामर्थ्य से सम्पन्न होता है। उद्भट ने इसी के लिए अवगम का प्रयोग किया है

3

आचार्य दण्डी के काव्यादर्श में ध्वनि-सिद्धान्त का अस्फुट-स्फुरण

डा० धर्मेन्द्रकुमार गुप्त

ध्वनि सिद्धान्त का उदय भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना है। यह घटना काव्य-तत्त्व के अनुसन्धान के प्रसंग में एक नवीन चिंतन और नूतन दृष्टि उपस्थापित करती है। इस क्रान्तिकारी घटना के लेखक थे अज्ञातनामा ध्वनिकार (जिनका काल अज्ञात है, परन्तु जिन्हें 800-825 ई० के लगभग रखा जा सकता है) तथा ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन (लगभग 875 ई०)[1]

ध्वन्यालोक में जहां एक ओर ध्वनि शब्द काव्य प्रकार विशेष के रूप में

1 ध्वनिकार और वृत्तिकार की परस्पर भिन्नता और अभिन्नता को लेकर बहुत कुछ लिखा गया है। जहां ए० बी० कीथ (हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर (आक्सफोर्ड, 1920) पृ० 386), सुशील कुमार दे (हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स (कलकत्ता, 1960), प्रथम भाग, पृ० 102 प्रभृति), पी० वी० काणे (हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स [दिल्ली, 1961], पृ० 161 प्रभृति) आदि दोनों को भिन्न मानते हैं वहां ए० शंकरन् (सम आस्पेक्ट्स आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत [मद्रास, 1929] पृ० 5०-6०), के० कृष्णमूर्ति (ध्वन्यालोक, अंग्रेजी अनुवाद, [पूना, 1955] आमुख, पृ० 17) तथा मुकुन्द माधव शर्मा (दि ध्वनि थ्यूरी इन संस्कृत पोइटिक्स [वाराणसी, 1968], पृ० 23—28] दोनों को अभिन्न मानने के पक्ष में हैं।

पहली बार अपने पारिभाषिक अर्थ में आया है, वहां दूसरी ओर ध्वनि-सिद्धान्त भी अपनी पूर्ण सैद्धान्तिक प्रौढता के साथ उपस्थित हुआ है। यह अपने आप मे एक असमाव्य सी स्थिति है।

ध्वनिकार ने अपने ग्रन्थ की पहली कारिका मे ही कहा है "काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व"[2] इस कथन के अनुसार, ध्वनि-सिद्धान्त बुधो अर्थात् काव्य-तत्त्व वेत्ता सहृदयो द्वारा 'समाम्नातपूर्व' था। इस पर आनन्दवर्धन की वृत्ति है 'बुधै काव्यतत्त्वविद्भि काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञित परम्परया य समाम्नातपूर्व सम्यग् आ समन्तात् म्नात प्रकटित"।[3] अर्थात् 'काव्यमर्मज्ञो ने काव्य के आधारभूत तत्त्व को ध्वनि नाम दिया, और परम्परा से इसको बार-बार प्रकाशित किया।" उक्त कथन की व्याख्या करते हुए लोचनकार अभिनवगुप्त (980-1020 ई०) ने 'परम्परया' के भाव को इस प्रकार विशद किया है 'अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तैरेतदुक्त, विनापि विशिष्टपुस्तकेषु विनिवेशनाद् इत्यभिप्राय"।[4] अर्थात् "उन बुधो ने निरन्तर क्रम से इसका प्रकाशन किया है, किन्तु विशिष्ट पुस्तको मे इसका व्याख्यान अथवा स्थापन नही किया।" इसी प्रसग मे अभिनवगुप्त ने ध्वनि की इस सकल्पना की 'इदप्रथमता' का निराकरण किया है।[5]

ध्वन्यालोककार ने आगे चलकर पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा ध्वनि प्रकाशन सबन्धी अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है "तस्य हि ध्वने स्वरूप सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतमतिरमणीयमणीयसीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिना बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्। अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारम् .....।"[6] अर्थात् 'ध्वनि की सकल्पना का उन्मीलन पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रियो द्वारा नही हुआ था, यद्यपि यह सकल्पना समस्त श्रेष्ठ कवियो की कविता का उपनिषद् है एव रामा-

2 ध्वन्यालोक [अभिनव गुप्त की लोचन टीका सहित, स० जगन्नाथ पाठक, वाराणसी, 1965], 1।1।

3 उक्त ग्रन्थ, पृ० 9।

4 उक्त ग्रन्थ, पृ० 11।

5. उक्त ग्रन्थ, पृ० 11 समाम्नातपूर्व इति । पूर्वग्रहणेनेदप्रथमता नात्र सम्भाव्यते इत्याह ।

6. उक्त ग्रन्थ, पृ० 37।

यण, महाभारत आदि लक्ष्य है ग्रन्थों में इसकी सुन्दर योजना हुई है।"

यहां यह प्रश्न किया जा सकता है यदि ध्वनि-सकल्पना अनुन्मीलित-पूर्व थी, तो प्रथम कारिका में ध्वनि विरोधी मतों की अवतारणा का आधार क्या हो सकता है ? और फिर एक लेखक का ध्वनि-विरोधी अभिमत तो वृत्ति में भी उद्धृत है।[7] अभिनवगुप्त ने इस लेखक को ग्रन्थकार का समकालीन मनोरथ नामक कवि माना है।[8]

वस्तुत ध्वनि-विरोधी मतों की अवतारणा अथवा ध्वनि के सम्बन्ध में व्याकरणों और काव्यतत्त्वार्थदर्शी मनुष्यों के मत का उल्लेख[9] ध्वनिकार और आनन्दवर्धन ने अपने सिद्धान्त की अर्वाचीनता का निराकरण करने के लिए—उसे प्राचीनता का लाभ प्रदान करने के लिए—किया है।[10] इस सम्बन्ध में आनन्दवर्धन के ये शब्द उल्लेखनीय हैं 'तदभाववादिनां चामी विकल्पाः सम्भवन्ति। तत्र केचिदाचक्षीरन्......। अन्ये ब्रूयु...। पुनरपरे तस्याभावमन्यथा कथयेयु......।"[11] अर्थात् "ध्वनि का अभाव मानने वालों के ये विकल्प सम्भव हैं। इनमें कोई (अभाववादी) कह सकते हैं कि......। दूसरे कह सकते हैं कि···। (तीसरे अभाववादी) उस (ध्वनि) का अभाव अन्य प्रकार से कह सकते हैं।" इसकी व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त लिखता है 'तद्व्याख्यानायैव सम्भाव्य दूषणं प्रकटयिष्यति।...ते च (विकल्पा) तत्त्वावबोधवन्ध्यतया स्फुरेयुरपि, अत एव 'आचक्षीरन्' इत्यादयोऽत्र सम्भावनाविषया लिङ्प्रयोगा अतीतपरमार्थे पर्यवस्यन्ति।'[12] अर्थात् "उसके व्याख्यान के लिए ही ग्रन्थकार सम्भावना करके दोष प्रकट करेगा।...और वे (विकल्प) तत्त्व के ज्ञान के न होने के कारण ही स्फुरित होते हैं, अत एव यहां 'आचक्षीरन्' आदि सम्भावना-विषयक लिङ् के प्रयोग बुद्धमारोपित अतीत का सम्बोधित

7. उक्त ग्रन्थ, पृ० 27-29। तथा 'यस्मिन्नस्ति न वस्तु···' इत्यादि श्लोक —यस्मिन्नस्ति न वस्तु···।

8. उक्त ग्रन्थ, पृ० 29।

9. उक्त ग्रन्थ, पृ० 137—42।

10. मुकुन्द माधव शर्मा उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० 28-32।

11. ध्वन्यालोक, पृ० 9, 17, 23, 26।

12. उक्त ग्रन्थ, पृ० 13-14, तु० पृ० 30 भी [illegible] [illegible] [illegible]

करते हैं।"

ध्वनि को भाक्त अथवा लक्षणा मानने वाले आचार्यों के मत की अवतारणा में आनन्दवर्धन और भी स्पष्ट हैं "यद्यपि च ध्वनिशब्दसंकीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चित् प्रकार प्रकाशित, तथाप्यमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहार दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि न लक्षित इति परिकल्प्यैवमुक्त 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' इति।"[13] अर्थात् "यद्यपि काव्यलक्षणकारों ने ध्वनि शब्द का उल्लेख करके गुणवृत्ति अथवा किसी अन्य (ध्वनि-) प्रकार को प्रख्यापित नहीं किया, तथापि काव्यों में अमुख्य (गौण) वृत्ति के द्वारा काव्यव्यवहार दिखाने वाले [आचार्य उद्भट] ने ध्वनि-मार्ग का थोड़ा सा स्पर्श करके भी उसका (स्पष्ट) लक्षण नहीं किया। (इसलिए उनके अनुसार गुणवृत्ति ही ध्वनि है —) ऐसी कल्पना करके 'अन्य लोग उसे भाक्त कहते हैं' यह कहा गया है।

ध्वन्यालोक के उक्त अवतरण में ध्वनि सिद्धान्त के अस्फुट अस्फुरण के संबन्ध में वस्तुस्थिति का सटीक आख्यान है।

संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में ध्वनि-सिद्धान्त के अन्तर्गत व्यंजना-व्यापार का अस्फुट स्फुरण सर्वप्रथम[14] आचार्य दण्डी द्वारा किए गए कतिपय अलंकारों के निरूपण में एवं कुछ एक गुणों के व्याख्यान में दीख पड़ता है।

इस संबन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण अलंकार है समासोक्ति, जिसकी दण्डि-प्रदत्त परिभाषा है "वस्तु किंचिदभिप्रेत्य तत्तुल्यस्यान्यवस्तुन । उक्ति

13. पृ॰ 34।

14. मुकुन्दमाधव शर्मा (उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ॰ 33-34) ने भरत द्वारा रस रूप में व्यंजित स्थायिभाव की चर्चा (नाट्यशास्त्र, अभिनवभारती सहित, बड़ौदा, 1934, 1956, पृ॰ 7-9) में व्यंजना व्यापार की कल्पना का उदय माना है। इस प्रसंग में उन्होंने भरत द्वारा प्रयुक्त व्यंजित शब्द का अर्थ यहां नाटक के प्रसंग में, 'अभिनीत' है, जैसा कि स्वयं डा॰ शर्मा ने स्वीकार किया है। भामह ने काव्यालंकार (सं॰ देवेन्द्रनाथ शर्मा, पटना 1962) में समासोक्ति के लक्षण (2, 79 यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषण ।) में 'गम्य अर्थ' का उल्लेख है। परन्तु जैसा कि प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने अपने ग्रन्थ, ए क्रिटिकल स्टडी आफ दण्डिन् एंड हिज वर्क्स (दिल्ली 1970), पृ॰64-81, में सविस्तार दर्शाया है, भामह दण्डी के बाद का लेखक है। दण्डी का काल 680-720 ई॰ है। जब कि भामह का समय आठवीं शताब्दी ई॰ का द्वितीय चरण है। देखिए, काव्यादर्श (सं॰ धर्मेन्द्रकुमार गुप्त, दिल्ली, 1973) पृ॰ 23-36) भी।

संक्षिप्तरूपत्वात् सा समासोक्तिरिष्यते ।।[15] अर्थात् किसी (इष्ट) वस्तु (प्रस्तुत) का अभिप्राय मन में रखकर उस वस्तु के समान किसी अन्य वस्तु (अप्रस्तुत) का कथन समासोक्ति है। उक्त परिभाषा के अनुसार अप्रस्तुत (उपमान) का कथन और उससे प्रस्तुत (उपमेय) की प्रतीति इस अलंकार का विषय है।[16] इसका उदाहरण है पिबन्मधु यथाकामं भ्रमरः फुल्ल पङ्कजे। अप्यसन्नद्धसौरभ्यं पश्य चुम्बति कुड्मलम् ।।[17] यहां यौवन से सम्पन्न रमणी से यथेच्छ रतिक्रीडा करने वाले अनुरागपूर्ण नायक के किसी अप्राप्तयौवना बाला के प्रति आकृष्ट हो जाने की प्रतीति हो रही है। यहां प्रतीयमान वस्तु प्रस्तुत है और प्रतीति व्यंजना-व्यापार का विषय है। उक्त उदाहरण में अलंकार के लक्षण को समन्वित करते हुए दण्डी ने इस प्रतीति अथवा व्यंजना के व्यापार को विभाव्यते (विभावित अथवा प्रतीत होता है)[18] क्रियारूप द्वारा अभिव्यक्त किया है। अन्यत्र अपूर्ण समासोक्ति के उदाहरण का समन्वय करते हुए दण्डी ने 'विभावन' के लिए 'सूचक' शब्द का प्रयोग किया है।[19] दण्डी का यह 'विभावन' अथवा 'सूचक' स्पष्टतः व्यंजन या व्यंजना-व्यापार है तथा उसके समासोक्ति के लक्षण में सङ्केतित अभिप्रेत वस्तु व्यंग्य अर्थ है।

इस प्रसंग में यह बात महत्त्वपूर्ण है कि काव्यादर्श के अपेक्षाकृत प्राचीन टीकाकार रत्नश्रीज्ञान (900-940 ई०) ने दण्डी प्रदत्त समासोक्ति-लक्षण (ऊपर उद्धृत) की व्याख्या करते हुए लिखा है तस्मादिय गुणीभूतव्यङ्ग्यान्तर [इत्युच्यते] न तु स्वार्थत्वेना स्वयमेव वाच्यध्वनिरिति व्यवह्रियते। यदाहु– यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ । व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनि

15 काव्यादर्श 2 206

16 कतिपय परवर्ती आचार्य (यथा रुय्यक) अप्पय दीक्षित विश्वनाथ विद्यानाथ आदि) अप्रस्तुत की प्रतीति से युक्त प्रस्तुत का उक्ति को इस अलंकार का विषय मानते हैं और इस प्रकार इसे अप्रस्तुत प्रशंसा से पृथक करते हैं। दण्डी का समासोक्ति उनके वर्ती इन आचार्यों की अप्रस्तुत प्रशंसा से तुलनीय है।

17 काव्यादर्श 2 206।

18 उक्त ग्रन्थ 2 207। तु० नारायणम (काव्यलक्षण दरभंगा 1957)। विभाव्यते प्रतीयते न तु साक्षादभिधीयते। तु० प्रमचन्द्र तर्कवागीश जीवानन्द विद्यासागर, रङ्गाचार्य रेड्डी शास्त्री आदि टीकाकार भी।

19 काव्यादर्श 2 213 तु० रत्नश्रीज्ञान भी।

रिति सूरिभि कथित ।।"[20] अर्थात् "इस प्रकार यह (संक्षिप्त उक्ति) स्वय गुणीभूत होकर अन्य अर्थ की व्यंजना करती है, यह अपने (वाच्य) अर्थ की अधीनता में नहीं रहती (क्योंकि वाच्य अर्थ यहा अभिप्रेत नहीं है)। इसके लिए ही अन्य आचार्यों ने ध्वनि शब्द का व्यवहार किया है। जैसा कि (ध्वनिकार ने) कहा है 'जहा अर्थ स्वय अपने आप को अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस [प्रतीयमान] अर्थ को व्यक्त करते है वहाँ उस काव्यविशेष को विद्वान् लोग 'ध्वनि' कहते हैं।"

यहाँ यह भी अवधेय है कि रत्नश्रीज्ञान ने समासोक्ति में, वर्णित अर्थ से भिन्न अभिप्रेत अथवा प्रतीत अर्थ को प्रधान अर्थ माना है तथा साक्षात् उक्त शब्द एव अर्थ को गौण स्वीकार किया है क्योंकि वह (साक्षात् उक्त-अर्थ) उसकी दृष्टि म स्वार्थ पर नही है (प्रत्युत अभिप्रेतार्थपरक अथवा अभिप्रेतार्थनिमित्तक है)।[21]

अभिप्रेत वस्तु (व्यंग्यअर्थ) का कथन न करने का कारण यहाँ स्पष्ट ही यह तथ्य है कि उसका साक्षात् शब्द द्वारा कथन चमत्कार का आधायक नहीं होता, जब उसकी व्यंजना काव्य-चमत्कार की सृष्टि करती है।[22]

दण्डी की समासोक्ति-सकल्पना उसके निकटपरवर्ती आचार्य भामह (आठवीं शताब्दी का द्वितीय चरण) मे स्पष्टतर रूप मे आई है। भामह के अनुसार, जहाँ किसी पदार्थ का कथन होने पर उसके समान विशेषण वाला अन्य अर्थ प्रतीत होता है वहा समासोक्ति होती है।[23] आचार्य भोज (1000-1050 ई०) भामह की अपेक्षा भी अधिक स्पष्ट है "यत्रोपमाना

20 काव्यलक्षण, पृ० 131। "यत्रार्थ शब्दो वा" इत्यादि कारिका ध्वन्यालोक (1 13) म उद्धृत है।

21 काव्यलक्षण, पृ० 132 ततोऽप्रमेयार्थो विधेयत्वात्प्रधानम्। शब्दार्थस्तूपसर्जनीभूत, तत्परत्वाभाव वाक्यस्येति।" तु० पृ० 134 भी "तत्परत्वाद् अनपेक्षितस्वार्थभूतेर्दाक्षिण्यशब्दस्य पुरुषविशेषप्रत्यायकत्वम्।"

22. नरचन्द्र तर्कवागीश (स० कुमुद रंजन राय, कलकत्ता 1971) दण्डी के समासोक्तिलक्षण की व्याख्या करते हुए कहता है "किंचित् किमपि प्रस्तुत वस्तुअभिप्रेत्य चमत्कारित्वप्रतिपिपादयिषया व्यंजनया प्रतिपादयितुमभिलष्य"।" यहा उसने ध्वन्यालोक की निम्नलिखित उक्ति को उद्धृत किया है "वाच्योऽर्थो न तथा स्वदते, प्रतीयमान स यथा।"

23 काव्यालंकार, 2 79 (पूर्व उद्धृत)।

देवैतदुपमेय प्रतीयते। अतिप्रसिद्धेस्तामाहु समासोक्ति मनीषिण ॥"[24] भामह और भोज ने यहा, दण्डी के अनुसार ही, प्रतीयमान को प्रस्तुत माना है तथा साक्षात् उक्त अर्थ को अप्रस्तुत कहा है। रुय्यक (लगभग 1150-ई०), विश्वनाथ (लगभग 1280-1320 ई०) आदि ने इस अलकार में प्रतीयमानता को तो स्वीकार किया है, परन्तु उनके अनुसार इस अलकार में साक्षात् उक्त अर्थ ही प्रस्तुत होता है जिससे अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होती है।[25] आनन्दवर्धन ने यहा व्यङ्ग्य से अनुगत वाच्य की स्थिति मानी है।[26]

व्यङ्ग्य से अनुगत अन्य महत्त्वपूर्ण अलकार है आक्षेप जिसका विस्तृत निरूपण दण्डी ने अपने काव्यादर्श में किया है। दण्डि-कृत परिभाषा के अनुसार, आक्षेप प्रतिषेध की उक्ति (कथन) मात्र का नाम है 'प्रतिषेधोक्तिराक्षेप'।[27] अर्थात् यहा प्रतिषेध का कथन तो होता है परन्तु तत्वत प्रतिषेध नहीं होता। दूसरे शब्दों में, प्रतिषेध का आभास आक्षेप अलकार का विषय है। इस अलकार के सबन्ध में उक्त तथ्य का स्पष्ट उल्लेख पहली बार भामह के काव्यलकार में हुआ है, भामह ने विशेष अर्थ का प्रतिपादन करने की इच्छा से इष्ट के प्रतिषेधाभास को आक्षेप कहा है।[28]

आक्षेप के स्वरूप की स्पष्टता दण्डि-प्रदत्त उसकी परिभाषा में न होकर उनके द्वारा दिए गए उदाहरणों में हुई है। इन उदाहरणों के पर्यालोचन से यह निष्कृष्ट होता है कि दण्डी के अनुसार इष्ट अर्थ का प्रतिषेधाभास कथन और अनिष्ट अर्थ का विध्याभास प्रतिषेध इस अलकार का विषय हैं। इसमें क्रमश प्रतिषेध की वाच्यता द्वारा अर्थविशेष की व्यङ्ग्यता तथा विधि की वाच्यता द्वारा प्रतिषेध की व्यङ्ग्यता का ग्रहण होता है। उक्त दोनों रूपों में प्रतिषेध तत्त्व, जिसे दण्डी ने आक्षेप कहा है, समान है। यह प्रति-

24. सरस्वतीकण्ठाभरण (रत्नेश्वर एव जगद्धर की टीका सहित, बम्बई, 1934), 4 46।

25. रुय्यक अलकारसर्वस्व (स० रामचन्द्र द्विवेदी, दिल्ली, 1965), सूत्र 31; विश्वनाथ . साहित्यदर्पण (स० कृष्णमोहन शास्त्री, वाराणसी, 1947-48), 10.56। द्र० विद्यानाथ : प्रतापरुद्रयशोभूषण (स० वे० राघवन्, मद्रास, 1970), 8 117 भी।

26. ध्वन्यालोक, I.13 (पृ० 109-10)।

27. *काव्यादर्श, 2 120।*

28. काव्यालकार, 2 67 68. "प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।"

षेध अथवा आक्षेप जहां प्रथम रूप मे वाच्य है, वहा द्वितीय रूप मे निस्सन्देह व्यग्य है। आक्षेप की यह व्यग्यता दण्डि प्रदत्त उदाहरणो मे नितान्त स्पष्ट है। अनादराक्षेप का उदाहरण देखें —

जीविताशा बलवती धनाशा दुर्बला मम ।
गच्छ वा तिष्ठ वा कान्त स्वावस्था तु निवेदिता ।।[29]

यहा प्रिय की प्रवास-यात्रा का निषेध वाच्य नही, व्यग्य है। उसकी यह व्यग्यता नायिका के उदासीनता-सूचक शब्दो से निष्पन्न हुई है। प्रवास यात्रा निषेध रूप वस्तु की व्यग्यता के कारण यहा वस्तु ध्वनि है। यहां यह बात महत्त्वपूर्ण है कि हेमचन्द्र (जन्म 1088 ई०) ने अपने काव्यानुशासन मे इस उदाहरण-पद्य को वस्तु-ध्वनि के निदर्शन के रूप मे उद्धृत किया है।[30]

आशीर्वचनाक्षेप का यह उदाहरण भी इस प्रसग मे द्रष्टव्य है—

गच्छ गच्छसि चेत्कान्त पन्थान सन्तु ते शिवा ।
ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान् ।।[31]

यहा भी प्रवास-यात्रा का विध्याभास निषेध है जो व्यग्य है। भोज, रुय्यक, जयदेव (तेरहवी शताब्दी)। विश्वनाथ तथा अप्पय दीक्षित (लगभग 1600 ई०) ने इस पद्य को इसी आक्षेप-प्रकार के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है।[32] यहा भी पूर्वोक्त उदाहरण की भाति प्रवासयात्रा-निषेध रूप व्यग्य की अवस्थिति के कारण वस्तु ध्वनि है। प्रवासयात्रा निषेध रूप व्यग्य की स्थिति अनुज्ञाक्षेप, परुषाक्षेप साचिव्याक्षेप, यत्नाक्षेप, परवशाक्षेप, उपायाक्षेप, रोषाक्षेप तथा मूर्च्छाक्षेप के उदाहरणो में भी है।[33] इन सभी स्थलो मे वस्तु ध्वनि है।

पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार ध्वनिकार एव आनन्दवर्धन की दृष्टि

29. काव्यादर्श, 2 139 ।

30. काव्यानुशासन (स्वोपज्ञ चूड़ामणि वृत्ति सहित, बम्बई, 1934) पृ० 37-38 ।

31 काव्यादर्श, 2141 ।

32 सरस्वतीकण्ठाभरण, 4, उदा० 147 अलंकारसर्वस्व, सूत्र 39 वृत्ति, चन्द्रालोक (कलकत्ता, 1921), 5 72, साहित्यदर्पण 10 6 5, कुवलयानन्द (सं० भोलाशंकर व्यास वाराणसी, 1963) कारिका 75 ।

33. द्र० काव्यादर्श, क्रमश , 2 135, 143, 145, 147, 149, 151' 153, 155 ।

में सभी प्रकार की सव्यंग्य निषेध आक्षेप अलंकार का विषय है ।[34] पण्डितराज ने आनन्दवर्धन की आक्षेप-ध्वनि की व्याख्या [35] के आधार पर उनकी इस मान्यता का प्रत्याख्यान किया है । इस दृष्टि से यह आक्षेप वाच्य की चारुता के प्राधान्य के कारण, गुणीभूत व्यंग्य काव्य की सीमा में आ जाता है । अग्निपुराण के लेखक (नवीं शताब्दी का उत्तर भाग) ने तो आक्षेप को ध्वनि ही मान लिया है ।[36]

दण्डी के व्यतिरेक-निरूपण में भी व्यंग्य की अवस्थिति है । दो वस्तुओं के बीच सादृश्य के शब्दोपात्त अथवा प्रतीत होने पर, (उपमेय का उत्कर्ष जताने के लिए) भेद का कथन दण्डी के अनुसार, व्यतिरेक है—

शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुनोर्द्वयोः ।
तत्र यद् भेदकथनं व्यतिरेकः स कथ्यते ।।[37]

सादृश्य की प्रतीयमानता की बात दण्डी ने उपमा और प्रतिवस्तूपमा के प्रसंग में भी की है ।[38] अन्यत्र उपमा के प्रसंग में उसने सामान्य धर्म की प्रतीयमानता का प्रख्यापन किया है ।[39] व्यतिरेक अलंकार के निरूपण में एक-व्यतिरेक नामक व्यतिरेक-भेद के वर्णन में दण्डी ने उपमेय और उपमान के बीच भेद की प्रतीयमानता की चर्चा भी की है ।[40] सादृश्य एवं भेद की प्रतीयमानता की यह स्वीकृति व्यंग्य अर्थ की अचेतन अथवा अस्फुट स्वीकृति है ।

दण्डी के अन्य अलंकार जहां व्यंजना-व्यापार की अस्फुट स्वीकृति है ये

34. रसगंगाधर (सं० बदरीनाथ झा, वाराणसी, 1964, 1969), द्वितीय भाग, पृ० 406 ।

35. ध्वन्यालोक, 2.27 वृत्ति ।

36. अग्निपुराण (सं० बलदेव उपाध्याय, वाराणसी, 1966), 345.14 "स आक्षेपो ध्वनिः स्याच्च ध्वनिना व्यज्यते यतः ।"

37. काव्यादर्श, 2.180 ।

38. उक्त ग्रन्थ, 2.14 तथा 2.46 ।

39. उक्त ग्रन्थ, 2.16 ।

40. उक्त ग्रन्थ, 2.182 ।

हैं अन्योन्योपमा,[41] असाधारणोपमा,[42] अप्रस्तुतप्रशंसा,[43] व्याजस्तुति,[44] सूक्ष्म,[45] लेश,[46] पर्यायोक्त,[47] तथा उदात्त ।[48]

यहां यह अवधेय है कि रुय्यक ने भामह, उद्भट आदि अलंकारवादी आचार्यों की ध्वनि-सम्बन्धी अस्फुट दृष्टि की समीक्षा करते हुए कहा है कि उक्त आचार्यों ने प्रतीयमान अर्थ को अलंकार की कोटि में अन्तर्निहित माना है, क्योंकि प्रतीयमान अर्थ, उनकी दृष्टि में वाच्य अर्थ का उपस्कारक अथवा शोभाकारक होता है ।[49] उनके इस मन्तव्य के निदर्शन के रूप में रुय्यक ने पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा समासोक्ति आक्षेप, व्याजस्तुति, उपमेयोपमा और अनन्वय आदि का उल्लेख किया है जिसमें ध्वनित होने वाले अर्थ को अलंकारवादी आचार्य वाच्य अर्थ का उपस्कारक मानते हैं । यद्यपि रुय्यक ने इस प्रसंग में भामह और उद्भट के साथ दण्डी का नाम ग्रहण नहीं किया, तथापि दण्डी का नाम निस्सन्देह इन अलंकारवादी आचार्यों में समाविष्ट किया जा सकता है ।[50]

इस प्रसंग में दण्डी के उदारत्व नामक गुण की चर्चा भी अप्रासंगिक न होगी । उसने इसे इस प्रकार परिभाषित किया है—

उत्कर्षवान् गुणः कश्चिद् यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते ।
तदुदाराह्वयं तेन सनाथा सर्वपद्धतिः ।।[51]

41 उक्त ग्रन्थ, 2.18 (उत्तरवर्ती उपमेयोपमा) ।
42. उक्त ग्रन्थ 2.37 (उत्तरवर्ती अनन्वय) ।
43 उक्त ग्रन्थ, 2.340-42 (उत्तरवर्ती व्याजस्तुति से तुलनीय) ।
44. उक्त ग्रन्थ, 2.343 प्रवृत्ति (दण्डी के अपने लेश अलंकार [illegible] द्वितीय रूप से तुलनीय) ।
45 उक्त ग्रन्थ, 2.260 ।
46 उक्त ग्रन्थ, 2,268-72 ।
47 उक्त ग्रन्थ, 2.295-96 ।
48 उक्त ग्रन्थ, 2.301-03 ।
49 अलंकारसर्वस्व, पृ० 2-4
50 तु० अलंकारसर्वस्व पर विमर्शिनीकार जयरथ (सं० रेवाप्रसाद द्विवेदी, वाराणसी, 1971) पृ० 6 ।
51. काव्यादर्श, 1.76 ।

इसका उदाहरण है—

अर्थिना कृपणा दृष्टिस्त्वन्मुखे पतिता सकृत्।
तदवस्था पुनर्देव नान्यस्य मुखमीक्षते ॥[52]

अर्थात् "हे राजन्, याचकों की दीनता-पूर्ण दृष्टि हमारे मुख पर एक बार पड़ने के बाद, पुन दैन्यावस्था को प्राप्त होने पर वह किसी अन्य दाता का मुह नहीं ताकती।" यहा "वह पुन तुम्हारे पास आकर तुमसे अपनी इच्छा पूर्ण कर लेते हैं। ऐसी है आप के दान-गुण की महिमा" यह अर्थ प्रतीत होता है। वर्ण्य वस्तु की महनीयता के व्यंजक इस दान-गुण की प्रतीति उदारत्व गुण का लक्षण है। स्पष्ट है कि यह गुण प्रतीयमान अर्थ को अपने में गर्भित किए हुए है। दण्डी का यह गुण उसके अपने उदात्त अलकार से तुलनीय है, और इस सबन्ध में यह बात महत्त्वपूर्ण है कि प्रो० पी० सी० लहीरी ने दोनो के बीच अन्तर स्थापित करते हुए लिखा है कि यहा उदात्त अलकार मे आशय या विभूति की महिमा वाच्य होती है, वहा उदारत्व गुण में यह गम्य होती है।[53] वास्तव मे दोनो के बीच यह विभाजक रेखा खीचना सभव नही है, क्योंकि दोनो मे आशय या विभूति की महिमा गम्य है, वाच्य नही, जैसा कि उनके उदाहरणो मे स्पष्ट है[54]

दण्डी के माधुर्य गुण के विपर्ययभूत शब्दगत ग्राम्यत्व रूप दोष का स्थिति का आधार शब्द-विशेष की योजना द्वारा अर्थ-विशेष की व्यजना है। इस प्रसग मे दण्डी कहता है 'पदो को परस्पर जोड देने से अथवा वाक्य के अर्थविशेष के माध्यम से वाक्यविशेष अशिष्ट अर्थ का व्यजक हो जाता है। जैसे—'या भवत प्रिया, ।"[55] इस उदाहरण मे 'जो आप की प्रिया है' यह प्रस्तुत वाच्य अर्थ है। इसमे 'या' और 'भवत' को परस्पर जोड देने से 'मनत मैथुनरत व्यक्ति की प्रिया' (यामवत प्रिया)—इस अश्लील अर्थ की व्यजना होती है। यद्यपि यहा पर प्राप्त व्यजना का स्वरूप उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत इसके स्वरूप से भिन्न है, तथापि दोनो के

52. उक्त ग्रन्थ, 1.77.

53. कन्सेप्ट्स आफ रीति एड गुण इन सस्कृत पोइटिक्स (ढाका, 1937, पुनर्मुद्रण, दिल्ली, 1974) पृ० 75 टि०।

54. द्र० काव्यादर्श 1 77 तथा 2 300-03।

55 उक्त ग्रन्थ, 1 66 'पदसधानवृत्त्या वा वाक्यार्थत्वेन वा पुन । दुष्प्रतीतिकर ग्राम्य यथा या भवत, प्रिया।"

बीच एक अस्फुट साम्य अवश्य है।[56]

आचार्य दण्डी ने दो अवसरों पर गौणवृत्ति की चर्चा की है। समाधि गुण की उसकी सकल्पना का आधार स्पष्टत लक्षणा या गौणवृत्ति है। इस गुण का उदाहरण है *"कुमुदानि निमीलन्ति कमलान्युन्मिषन्ति च।"* (कुमुद के फूल मुद रहे हैं और कमल के फूल उन्मीलित हो रहे हैं)।[57] यहा समाधि गुण की परिभाषा के अनुसार कुमुदो और कमलो में नेत्र की क्रिया (निमीलन और उन्मीलन) का आरोप हुआ है। दण्डी की यह समाधि-कल्पना वामन में वक्रोक्ति अलकार के रूप म आई है जो उसके अनुसार सादृश्यहेतुक लक्षणा है।[58] उसमे इसका उदाहरण है "उन्मिमील कमल सरसीना कैरव च निमिमील मुहूर्तात्" जो दण्डी के उपर्युक्त उदाहरण से तुलनीय है।

इसी प्रसग मे दण्डी ने कहा है 'निष्ठ्यूत 'थूका गया', उद्गीर्ण 'उगला गया', और वान्त 'वमन किया गया' आदि शब्द गौणवृत्ति (लक्षणा) के आश्रय से अर्थात् लाक्षणिक अर्थ मे प्रयुक्त किए जाने पर अत्यन्त हृदयहारी होते है। अन्यत्र (वाच्य अथवा मुख्य अर्थ में प्रयुक्त किए जाने पर) ये अथवा ऐसे शब्द ग्राम्य शब्दो की कोटि मे आते है।"[59] उक्त शब्दो के लाक्षणिक अर्थ मे प्रयोग का दण्डि-प्रदत्त उदाहरण है "पद्मान्यर्कांशुनिष्ठ्यूता पीत्वा पावकविप्रुषः। भूयो वमन्तीव मुखैरुद्गीर्णारुणरेणुभिः॥" अर्थात् "सूर्य की किरणो से फेंके गए तेज कणो को पीकर य कमल अब *उन कणो को अरुण पराग उगलने वाले अपने मुखो से अधिक मात्रा मे* मानो बाहर निकाल (बिखेर) रहे हैं।"[60]

गौणवृत्ति का अन्यत्र उल्लेख हेतु अलकार के अन्तर्गत चित्रहेतु के प्रसग मे है जहा दण्डी कहता है "ये (दूरकार्य तत्सहज, आदि) चित्रहेतु काव्य-

56. तु० कृष्ण चैतन्य : सस्कृत पोइटिक्स (बम्बई, 1965), पृ० 137।
57. काव्यादर्श, 1.94।
58. काव्यालकारसूत्रवृत्ति (गोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपाल कृतकामधेनु टीका सहित, कलकत्ता, 1922) । 4.3.8. तु० अलकारसर्वस्व, पृ० 7 भी।
59. काव्यादर्श, 1.95।
60. उक्त ग्रन्थ, 1 96।

प्रबन्धो मे गौणवृत्ति के समाश्रयण मे नितान्त मनोहारी हो जाते है।"[61] इन चित्रहेतुओ के दण्डि-प्रदत्त उदाहरणो मे गौणवृत्ति का सुन्दर समाश्रयण है।[62]

दण्डी द्वारा गौणवृत्ति की यह स्फुट कल्पना ध्वनि-सकल्पना का अस्फुट स्पर्श करती है। गौण वृत्ति की उसकी इस स्वीकृति मे लक्षणामूल अविवक्षितवाच्य, विशेषत अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य, नामक ध्वनि-भेद की अस्फुट स्वीकृति है।[63]

निष्कर्ष के रूप मे कहा जा सकता है कि यद्यपि दण्डी ने ध्वनि शब्द का उल्लेख करके गौण वृत्ति अथवा किसी अन्य ध्वनि-प्रकार को प्रख्यापित नही किया, तथापि कतिपय अलकारो के उसके निरूपण मे एव गौण वृत्ति के स्पष्ट उल्लेख द्वारा, उसके काव्यादर्श मे ध्वनि-सिद्धान्त के अन्तर्गत व्यजना-व्यापार का अस्फुट स्फुरण हुआ है और इस प्रकार दण्डी ने ध्वनि-सिद्धान्त का स्पर्श किया है।

61. उक्त ग्रन्थ, 2.254 नैऽसौ प्रयाणमार्गेषु गौणवृत्तिव्यपाश्रयात । अत्यन्तसुन्दरा दृष्टा ।

62 उक्त ग्रन्थ, 2. 255-59।

63. तु० अलकारसर्वस्व, पृ० 7 : "वामनेन तु०सादृश्यनिबन्धनाया लक्षणाया वक्रोक्त्यलकारत्व ब्रुवता कश्चिद् ध्वनिभेदोऽलकारतयैवोक्त. ।" तत्र-सजीवनी (स० रामचन्द्र द्विवेदी) तथा विमर्शिनी (स० रेवाप्रसाद द्विवेदी) भी।

4

व्यञ्जना और ध्वनि सिद्धान्त

डा० रविशंकर नागर

संस्कृत के काव्यशास्त्र के आचार्यों ने शब्द और अर्थ के साहित्य के माध्यम से काव्यतत्त्व की परीक्षा की है। शब्द और अर्थ का साहित्य काव्य में परिणत होता है। अतः काव्य की दी गई परिभाषाओं में शब्दार्थ के साहित्य का विवेचन है। काव्य तंत्र के प्रजापति भामह का काव्यलक्षण है—'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'। परवर्ती आचार्यों ने भी अपने काव्य के लक्षण में शब्द और अर्थ के इस साहित्य को अलंकार, गुण, रीति, रस ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य आदि के रूप में व्याख्या की है। काव्य का कोई भी लक्षण उपनिबद्ध किया जाए। उसमें शब्द और अर्थ तो आएंगे ही क्योंकि ये उसका शरीर हैं। यदि भाषाओं के माध्यम से विचारों की सुन्दर अभिव्यक्ति है तो काव्य की कोई भी परिभाषा बनाई जाए उसे शब्द तथा अर्थ से ही आरम्भ करना होगा। शब्द और अर्थ तो आधार हैं जैसे भवन के निर्माण के लिए नींव होती है। परन्तु शब्द-अर्थ का प्रयोग तो काव्येतर दर्शन, विज्ञान, राजनीति के क्षेत्र में तथा परस्पर वार्तालाप में भी होता है। शब्द और अर्थ के व्यवहार के तीन क्षेत्र हैं—(१) लोक या वार्ता (२) शास्त्र (३) काव्य। अतः काव्य के सन्दर्भ में जब शब्द तथा अर्थ का प्रयोग होना है तो लोक और शास्त्र का भेदक कोई तत्त्व तो होना ही चाहिए जिससे लक्षण में अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोष न आए। साहित्य का वैशिष्ट्य अथवा चारुत्व ही ऐसा व्यावर्तक है जो

लोक और शास्त्र से शब्दार्थमय काव्य को भिन्न करता है जिससे शब्दार्थ मय होने के कारण लोक और शास्त्र से टकराती हुई काव्य की मर्यादा का विभाजन हो जाता है। अतः साहित्य भेदक तत्त्व है। केवल शब्द-अर्थ काव्य नहीं इनका साहित्य काव्य है। इसीलिए काव्य के लिए साहित्य तथा काव्यशास्त्र के लिए साहित्यशास्त्र पर्यायों का प्रचलन है। साहित्य का अर्थ है—सहभाव अर्थात् शब्द और अर्थ की यथावत् स्थिति, सह अवस्थान। शब्द और अर्थ में सौन्दर्य जो काव्य का प्राण है, इन दोनों के सह अवस्थान अथवा सम्यक् अवस्थान से ही सम्भव है। व्याकरण की दृष्टि से शब्द और अर्थ का सम्यक् प्रयोग भी सहभाव की कोटि में आ जाता है। परन्तु काव्यत्व का प्राण चारुत्व न होने के कारण शब्द और अर्थ की सम्यक् स्थिति सौशब्द तो मानी जा सकती है परन्तु साहित्य नहीं। अतः लोक और शास्त्र में जब शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है तो वहां शब्द और अर्थ का सहभाव तो होता है परन्तु उस सहभाव में चारुत्व न होने के कारण उसे हम सच्चे अर्थों में साहित्य नहीं कह सकते। काव्य में प्रयुक्त शब्द और अर्थ भी व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध तो होने ही चाहिए। वहां भी सौशब्द अपेक्षित है और इसीलिए जब संस्कृत के आचार्य काव्य की परिभाषा देते हैं तो शब्दार्थों के साथ 'अदोषों' भी कहते हैं। काव्यत्व के लिए शब्द अर्थ को रख देना ही पर्याप्त नहीं है उनका व्याकरण तथा लोक-प्रयोग की दृष्टि से शुद्ध होना भी आवश्यक है। शब्द और अर्थ के निर्दोष होने पर ही उनके चारुत्व के लिए अवकाश होता है। यदि अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा ही अशुद्ध है तो काव्य के अपर पर्याय चारुत्व के उभरने के लिए भूमि नहीं है। अतः काव्य के लक्षण में शब्दार्थों का 'अदोषों' विशेषण अपरिहार्य है। अदोष शब्द अर्थ काव्य के सर्वसम्मत घटक हैं। शब्द और अर्थ की निर्दोषता के बाद उनमें साहित्य का उन्मेष होता है जिससे वे सुन्दर बनते हैं। इस प्रकार शब्द और अर्थ का मधुर सम्बन्ध साहित्य है। काव्यशास्त्र में सारा विवाद इस मधुर सम्बन्ध या साहित्य या वैशिष्ट्य को लेकर ही खड़ा होता है। वह कौन सा तत्त्व है जो मधुर सम्बन्ध के रूप में शब्द तथा अर्थ में परस्पर सहभाव या साहित्य लाता है। इसी तत्त्व का विवेचन करने के लिए संस्कृत के काव्य शास्त्र में विभिन्न सम्प्रदाय तथा सिद्धान्त स्थापित हुए जिनमें ध्वनि सिद्धान्त प्रमुख है।

प्रस्तुत निबन्ध में ध्वनि-सिद्धान्त तथा उसकी प्राणभूता व्यञ्जना वृत्ति

का संक्षेप में विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

काव्यशास्त्र में शब्द और अर्थ के विवेचन के साथ साथ शब्द से अर्थ की प्रतीति कराने वाली वृत्तियों का भी विचार हुआ है। काव्यशास्त्र से पूर्व मीमांसा या व्याकरण शास्त्रों में भी शब्द और अर्थ पर गम्भीरतापूर्वक विचार हुआ है। इस प्रकार शब्द और अर्थ और उनके परस्पर सम्बन्ध के विचार की पूरी परम्परा काव्यशास्त्र के आचार्यों को अपने पूर्वज प्राच्य आचार्यों दार्शनिकों तथा शाब्दिकों से धरोहर के रूप में उपलब्ध हुई है। उसी परम्परा को उन्होंने साहित्यशास्त्र में आगे बढ़ाया है। शब्द क्या है शब्द से अर्थ की प्रतीति कैसे हो जाती है शब्द नित्य है या अनित्य शब्द और अर्थ का परस्पर क्या सम्बन्ध है इन विषयों पर विचार करते हुए प्राचीन आचार्यों ने शब्द की विभिन्न शक्तियों की कल्पना की है। शब्द में कोई न कोई शक्ति है चाहे वह सहज या मानव प्रदत्त हो जिसके द्वारा शब्द किसी अर्थ को प्रकट करने में समर्थ होता है। यह शक्ति शब्द को चाहे परमात्मा ने दी हो या मनुष्य ने परन्तु शब्द में अर्थ के प्रत्यायन की शक्ति अवश्य है और इसी शक्ति के कारण शब्द सार्थक है तथा अर्थ की प्रतीति कराने में सशक्त है। शब्द की अर्थबोधिका इस शक्ति या क्षमता को शक्ति वृत्ति व्यापार के नाम से स्वीकार किया गया है तथा जैसे जैसे शब्द की इस अर्थावगमिका शक्ति का रहस्य प्राचीन भाषाविदों तथा दार्शनिकों के सामने खुलता गया वैसे-वैसे उन्होंने शब्द की इस शक्ति की विशद व्याख्या की। अभिधा, तात्पर्यवृत्ति, लक्षणा व्यञ्जना के रूप में शब्द में निहित उसकी अर्थप्रत्यायिका इसी क्षमता की व्याख्या है। भाषा के स्वरूप के अध्ययन तथा शब्द की अर्थबोधिका शक्ति के बीज मीमांसा, न्याय, व्याकरण तथा काव्यशास्त्र में यत्र तत्र बिखरे पड़े हैं। व्याकरण में स्फोट, मीमांसा दर्शन में अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद न्यायशास्त्र में लक्षणा तथा काव्यशास्त्र में व्यञ्जना के विचार के रूप में भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन का प्रयास किया गया है। आज के भाषाविदों के सामने आने वाली समस्याओं से प्राचीन भारतीय आचार्य सर्वथा अपरिचित नहीं थे। हां उनके विवेचन की पद्धति आज के भाषा-विज्ञान के युग से भिन्न अवश्य है। निरुक्तकार यास्क, महाभाष्यकार पतञ्जलि, वाक्यपदीयकार भर्तृहरि, ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन भाषा के मर्म को पकड़नेवाले आचार्य हैं और इनकी सूक्ष्म

गवेषणाए परवर्ती आचार्यों के लिए प्रेरणास्तम्भ रही है जिससे शब्दशक्ति तथा भाषा के अध्ययन तथा विश्लेषण का मार्ग भविष्य मे प्रस्तुत हुआ है।

इस प्रकार सातवी आठवी शती मे जब शब्दतत्र के प्रजापति भामह शब्द का लक्षण बनाने लगे तो उन्हे शब्द और अर्थ के, जो काव्य की उपादान सामग्री हैं, विवेचन की पूरी प्राचीन परम्परा मिली जिसे उन्होने आगे बढाया। रुद्रट तक तो इन आचार्यों को कठिनाई नही हुई। अलकार, गुण, रीति आदि के रूप म जिन सिद्धान्तो का ये आचार्य प्रतिपादन करते आ रहे थे उनका प्राचीन आचार्यों तथा भाषाविदो द्वारा स्थापित मान्यताओ से कोई असामजस्य नही था। अभिधेयार्थ को प्रतिपादित करने वाली अभिधा तथा अभिधेयार्थ से सम्बद्ध लक्ष्यार्थ को लक्षित करने वाली लक्षणावृत्ति द्वारा अलकार, गुण, रीति सिद्धान्तो मे अभिप्रेत उद्देश्य की सिद्धि हो जाती है। अलकारो मे वाच्यार्थ प्रधान रहता है। अत वहा अभिधा से काम चल गया। दण्डी वामन आदि द्वारा प्रतिपादित समाधि आदि गुणो मे जब अभिधा वृत्ति से काम न चला तो लक्षणा का अवलम्ब मिल गया। अत जब तक व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता और उसकी प्रधानता का प्रश्न न उठा तब तक काव्यशास्त्र के उत्तरो आचार्यों की तथा प्राचीन भाषाविदो की दाल खूब गलती रही। अतएव भामह तथा वामन ने काव्य के नियमो के विवेचनो के साथ साथ व्याकरण के नियमो का भी प्रतिपादन किया है। इन आचार्यों की दृष्टि मे काव्य की भाषा का व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध होना आवश्यक है। शुद्ध भाषा का प्रयोग तो सबको इष्ट है। परन्तु केवल भाषा की शुद्धता के साथ ही भाषा मे काव्यत्व नही आ जाता। भाषा की शुद्धता के साथ उसमे शोभा भी होनी चाहिए। यह शोभा ही भाषा को काव्य का जामा पहनाती है। काव्यशास्त्र मे प्राचीन आचार्यों ने इस शोभा का विवेचन अलकार तथा गुणो के रूप मे किया तथा अभिधा लक्षणा के रूप मे मिली शब्दशक्ति की प्राचीन परम्परा से विसवाद न रखते हुए अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया।

परन्तु जब आनन्दवर्द्धन आदि नव्य आचार्यों ने अलकार तथा गुणरीति के स्थान पर 'ध्वनि' को काव्य का परमतत्व माना तो उनके सामने बडी विकट समस्या खडी हुई। मीमासा हो या न्याय या शब्दशास्त्र सब शास्त्रो मे शब्द से नियत अर्थ की प्रतीति मानी जाती है। इन शास्त्रो मे जिस शब्द का जो अर्थ निर्धारित है वही लिया जाता है। यदि यहा शब्द

का नियत अर्थ छोड़कर अन्य कल्पित अर्थ लिया जाए तो बहुत बड़ी अव्यवस्था हो जाए । अत यहा घट का अर्थ घट ही है पट नहीं और पट का अर्थ भी पट ही है घट नहीं। शब्द के अर्थ का नैयत्य यहाँ सर्वथा अपेक्षित है। परन्तु ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित करने वाले सिद्धान्त मे शब्द से नियत अर्थ एव अनियत अर्थ की भी प्रतीति होती है। यहा 'भ्रम' शब्द अपने नियत अर्थ 'भ्रमण करो' के स्थान पर भ्रमण मत करो इस उल्टे अर्थ की भी प्रतीति कराता है। 'सूर्य अस्त हो गया' यह वाक्य भ्रमण के लिए चलना चाहिए इस अर्थ की भी प्रतीति कराता है जो सूर्य आदि शब्दो का व्याकरण कोष सम्मत नियत अर्थ नही है। वक्ता बोद्धव्य आदि उपाधियो के कारण ध्वनि सिद्धान्त मे शब्द के अर्थ का निर्णय किया जाता है तथा परिस्थिति एव प्रकरणवश शब्द का अर्थ परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार अर्थ का नियमन उपाधि करती है। अत यहा शब्द का अर्थ नियत नही है। उपाधि के साथ वह भी बदलता है। अर्थ के ऐसे परिवर्तन की यह समस्या मीमासको तार्किकों शाब्दिको के सामने नहीं थी और न ही अलकार गुणरीति को काव्य का तत्व मानने वाले काव्यशास्त्र के प्राच्य आचार्यों के सामने। अत प्रधान व्यग्य की जब ध्वनि के रूप मे स्थापना की गई तो इस व्यग्य अर्थ की प्रतीति कैसे होती है इस प्रक्रिया को समझने की काव्यशास्त्र के अन्य आचार्यों को आवश्यकता पडी। उस समय शब्द की अर्थप्रत्यायिका शक्तियों की परीक्षा का समय आया और उनमें सबको सब व्यग्य अर्थ की प्रतीति कराने मे असमर्थ दिखाई दी। ऐसी परिस्थिति मे नव्यों के सामने दो ही मार्ग थे। प्रथम मार्ग तो यह था कि अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा मे से किसी वृत्ति को लें और उसकी मर्यादाओं का विस्तार करें जिससे उसमें उसके प्रतिपाद्य अर्थ से अतिरिक्त व्यग्य अर्थ को द्योतित करने की भी सामर्थ्य आए। परन्तु नदियां जैसे तट की मर्यादा से बधी होती हैं वैसे ही ये वृत्तिया भी अपने अपने शास्त्र द्वारा निर्धारित नियमो से बधी होती थी जिनके व्यतिक्रम से शास्त्र मे अव्यवस्था हो सकती थी। शास्त्रकारो ने अभिधा को सीमा को सङ्केतित अर्थ तक बाध रखा था, तात्पर्यवृत्ति को अन्वित अर्थ तक तथा लक्षणा को लक्ष्यार्थ तक। इन वृत्तियो की अपनी अपनी कारण सामग्री भी निर्धारित थी जिसमें बधी ये नियत अर्थ के प्रत्यायन म ही प्रवृत्त होती थी। अत अब एक तो यह रास्ता था कि ध्वनि के रूप मे स्थापित व्यग्यार्थ का वाच्यार्थ अथवा

लक्ष्यार्थ से तादात्म्य करके उसे उनसे पृथक् स्वतंत्र न मानकर उनमें से किसी एक में ही उसे अन्तर्भावित कर लिया जाए और फिर अभिधा-लक्षणा के निर्धारित स्वरूप में उपमर्दन किए बिना ही उनके द्वारा प्रधान व्यंग्य की प्रतीति मानी जाए। परन्तु यह भी सम्भव नहीं था क्योंकि जैसे लक्ष्यार्थ की स्वरूप तथा विषय की दृष्टि से भिन्न होने के कारण वाच्यार्थ से पृथक् सत्ता निर्विरोध स्वीकार कर ली गई थी उसी प्रकार स्वरूप और विषय की दृष्टि से भिन्न होने के कारण व्यंग्यार्थ भी वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ से व्यतिरिक्त था। जो पदार्थ स्वरूपभेद से भिन्न होते हैं उनमें तादात्म्य कैसे हो सकता है। जैसे स्वरूप से भिन्न अग्नि और जल से तादात्म्य नहीं होता। इस प्रकार स्वरूप भेद के कारण व्यंग्यार्थ के वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ से तद्रूप न होने के कारण पहला उपाय सर्वथा असफल रहा। तब इस समस्या के समाधान का दूसरा मार्ग खोजा गया। ठीक है, व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ से स्वरूप के भेद से भिन्न है तब क्यों न अभिधा या लक्षणा में से किसी एक की परिधि का विस्तार कर लिया जाए और उसे उसके प्रतिपाद्य अर्थ के अतिरिक्त व्यंग्यार्थ के प्रत्यायन में भी सक्षम मान लिया जाए। इस प्रकार परम्परा से स्वीकृत अभिधावृत्ति में दीर्घदीर्घतर व्यापार की कल्पना करके उसके द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराई जा सकती है। इस मार्ग में अतिरिक्त व्यंजना-वृत्ति की कल्पना के गौरव से तो बचा जा सकता था परन्तु जितना लाभ नहीं था उससे कहीं अधिक हानि थी। अभिधा को दीर्घदीर्घतर मान लेने में सबसे बड़ी विषमता थी उन शास्त्रों की ही जड़ खोदना जिन्होंने इन वृत्तियों को जन्म दिया। मीमांसा दर्शन में अभिधा का जो स्वरूप निर्धारित है उसे यदि बदल दिया जाता है तो वह मीमांसा शास्त्र की अभिधा नहीं रही। यह तो मीमांसा से द्रोह हो गया। उसकी मर्यादा का व्यतिक्रम हुआ। जिस पत्तल में खाया उसी में छेद किया। शास्त्र में निर्धारित वृत्ति के स्वरूप को बदलने वाले ऐसे शास्त्रद्रोहियों की मम्मट ने 'कुलाङ्गार' कहकर ठीक ही भर्त्सना की है। अभिधा को दीर्घदीर्घतर मान लेने से व्यंग्यार्थ की प्रतीति तो हो जाती है और व्यंजना नाम की अतिरिक्त वृत्ति नहीं माननी पड़ती परन्तु इस मनमानेपन से उत्पन्न होने वाली अव्यवस्था से अभिधा, लक्षणा वृत्तियों के उद्भावक शास्त्रों का ही हनन होने लगता है।

इस प्रकार दोनों ही उपाय असफल रहते हैं। न तो व्यंग्यार्थ का

वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ से तादात्म्य हो सकता है और न ही अभिधा या लक्षणा के स्वरूप में विस्तार कर उन्हें दीर्घदीर्घतर मानकर उनसे व्यंग्यार्थ की प्रतीति करायी जा सकती है। परन्तु व्यंग्यार्थ की प्रतीति अनुभव सिद्ध है। और इसके साथ यह भी सिद्ध है कि कोई भी शब्द व्यापार के बिना अर्थ की प्रतीति नहीं करा सकता। सर्वस्वीकृति व्यापार अभी तक अभिधा तथा लक्षणा ही हैं। इनमें से कोई भी अपनी मर्यादा को भंग किए बिना व्यंग्यार्थ की प्रतीति नहीं करा सकता। मर्यादा का व्यतिक्रम शास्त्र द्वारा अनुमोदित नहीं है। अतः व्यंग्यार्थ के ध्वनन के लिए अभिधा तथा लक्षणा से अतिरिक्त अन्य व्यापार की कल्पना अपरिहार्य है और वह व्यापार द्योतन के कारण व्यंजना ही हो सकता है। व्यंजना को स्वीकार कर लेने से शास्त्र की मर्यादा भी अक्षुण्ण रहती है और अभिधा या लक्षणा में नए धर्मों के समावेश की जटिलता की अपेक्षा एक धर्मी के रूप में व्यंजना वृत्ति की पृथक् कल्पना कर लेने से सौकर्य एवं लाघव भी है। भिन्न भिन्न धर्मों की कल्पना के स्थान पर एक नवीन धर्मी की कल्पना में निश्चय ही लाघव है।

ध्वनि की सिद्धि व्यंजना पर अवलम्बित है। दोनों में मणिकाञ्चन संयोग है। व्यंजना ध्वनि का प्राण मानी गई है। अतएव ध्वनिध्वंसक आचार्य महिमभट्ट ने ध्वनि का निरसन करने से पूर्व व्यंजना का उन्मूलन करते हुए कहा है—

प्राणभूता ध्वनेर्व्यक्तिरिति सैव विवेचिता (व्यक्तिविवेक ३, ३.)

व्यंजना की आधारशिला पर ही ध्वनि का प्रासाद खड़ा है। जैसे ब्रह्म की माया, सांख्य के पुरुष की प्रकृति, प्रत्यभिज्ञा दर्शन के परमशिव की प्रतिभा तथा शाब्दिकों की परा वाणी है वैसे ही ध्वनि सिद्धान्त की जीवनाधायिनी शक्ति व्यंजना है। ध्वनिवादी आचार्यों को ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना के लिए व्यंजना शक्ति को अभिधा लक्षणा से अतिरिक्त शक्ति के रूप में सिद्ध करने के लिए बल लगाना पड़ा। व्यंजना के शब्द की तुरीया वृत्ति सिद्ध हो जाने पर ध्वनि सिद्धान्त पर किए गए सभी प्रहार अपने आप टूट कर विशीर्ण हो जाते हैं। इस प्रकार व्यंजना ध्वनिसिद्धान्त का अभेद्य कवच सिद्ध होती है। इसे काटे बिना कोई भी ध्वनि के अभेद्य गढ़ को नहीं गिरा सकता। अतएव जब आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि को प्रतिष्ठित करने के लिए व्यंजना की अतिरिक्त वृत्ति के रूप में घोषणा की तो प्राच्य

भाषाविदों ने भी व्यंजना का विरोध किया और काव्यशास्त्र के आचार्य भी जो शब्द और अर्थ के प्रसंग में अभी तक शाब्दिकों और तार्किकों का पल्ला पकड़े हुए थे, इस नए व्यापार का विरोध करने के लिए उनसे भी अधिक प्रचण्ड हो गए। प्रसिद्ध तार्किक जयन्त भट्ट ने तो अपनी न्यायमंजरी में व्यंजना व्यापार के प्रतिष्ठापक ध्वनिकार का 'पण्डितम्मन्य'[1] कह कर उपहास किया और स्पष्ट कहा कि वाक्यार्थ के विवेचन के प्रसंग में इन नए कवियों एवं आलोचकों को अपनी टांग नहीं अड़ानी चाहिए। शब्द तथा अर्थ के विचार का प्रश्न सीधा शाब्दिकों और तार्किकों से जुड़ा है और इस गहन क्षेत्र में आनन्दवर्द्धन जैसे नौसिखियों को प्रवेश करने का अवसर नहीं है। अतः अभिधा-लक्षणा के रहते शब्द अर्थ के विवेचन में निष्णात शास्त्रकारों के अनुमोदन को प्राप्त किए बिना व्यंजना के रूप में नई वृत्ति की कल्पना सर्वथा उपहसनीय है।

ऐसी परिस्थिति में आनन्दवर्द्धन के समक्ष यह समस्या थी कि वे ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना से पूर्व इसकी प्राणभूता व्यंजना की सिद्धि के लिए प्राचीन शास्त्रों में ही ऐसे तत्त्व खोजें जिनका व्यंजना से साम्य हो जो व्यंजना का उत्स बन सके और जिससे यह स्पष्ट हो कि व्यंजना कोई नई वृत्ति नहीं है, इसके बीज प्राचीन शास्त्रों में हैं जहां से यह पल्लवित एवं पुष्पित हुई है। अतएव व्यंजना के उद्भावक होने पर भी ध्वनिकार ने *यह श्रेय अपने ऊपर नहीं ओढ़ा प्रत्युत इस सिद्धान्त के विषय में ध्वन्या*लोक की प्रथम कारिका की प्रथम पंक्ति में ही 'बुधैः समाम्नातपूर्वः' कहा। यद्यपि व्यंजना के रूप में जिस तत्त्व को आनन्दवर्द्धन ने घोषित किया वह सहसा पलक झपकते ही पका पकाया उनकी झोली में नहीं आ गिरा था, प्रत्युत प्राचीन शास्त्रों में ही व्यंजना का जीवातु बीज रूप में निहित था। व्यंजना का उत्स सुदूर शास्त्रों के गर्भ में छिपा पड़ा था परन्तु उसे अभी तक न भाषाविदों ने और न ही शब्दशास्त्रियों ने ढूंढ़ा था। जब काव्य में ध्वनि को आत्मा माना गया तो उसकी प्राणभूत व्यंजना का बीज आनन्द-

1 एतेन शब्दसामर्थ्यमहिम्ना सोऽपि वारितः। यमन्यः पण्डितम्मन्यः प्रपेदे कञ्चन ध्वनिम्। माननान्तरपरिच्छेद्यवस्तुरूपोपदेशिनाम्। शब्दानामेव सामर्थ्यं तत्र तत्र तथा तथा अथवा नेदृशी चर्चा कविभिः सह शोभते। विद्वांसोऽपि विमुह्यन्ति वाक्यार्थगहनेऽध्वनि॥ जयन्तभट्ट न्यायमञ्जरी, पृ० 45 (काशी संस्कृत सीरीज)।

वर्द्धन को शास्त्र की दुहाई देने वालों के शास्त्रों में ही मिल गया जो अब तक व्यंजना का उपहास करते आ रहे थे।

आनन्दवर्द्धन की सूक्ष्म दृष्टि ने सब विद्याओं के मूल शब्दशास्त्र में ही व्यंजना के मूल को खोज लिया। उनकी तत्त्वदर्शिनी प्रज्ञा ने देखा कि स्फोट के रूप में जो बात शाब्दिक कहते हैं उसमें व्यंजना के जीवातुभूत अभिव्यक्ति का विचार अन्तर्हित है। जिस प्रकार वर्ण विद्यमान स्फोट की अभिव्यक्ति करते हैं स्फोट अभिव्यंग्य है और वर्ण अभिव्यंजक हैं उसी प्रकार ध्वनि भी व्यंग्य है जो व्यंजक शब्दों या अर्थों से अभिव्यक्त होती है। जिस प्रकार अभिव्यंजक वर्णों तथा अभिव्यंग्य स्फोट में व्यंग्य व्यंजक भाव है। उसी प्रकार ध्वनि तथा उसके द्योतक शब्द-अर्थ में भी वही व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव है। स्फोट दर्शन में निहित इसी सूक्ष्म भाव को आनन्दवर्द्धन ने व्यंजना के रूप में साकार कर दिया और जब काव्य में व्यंग्यार्थ के द्योतन का प्रश्न आया तो उन्होंने शास्त्रकारों द्वारा निर्धारित अभिधा लक्षणा की मर्यादा का आकुल किए बिना ही शाब्दिकों द्वारा स्फोट के रूप में सूचित व्यंजना वृत्ति से ध्वनि की सिद्धि कर दी। इसी कारण वे ध्वन्यालोक में बार बार वैयाकरणों के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित[1] करते हैं और उनकी प्रशस्ति में श्रद्धा के प्रसून अर्पित करते हैं।

व्यंजना का बीज न केवल शब्दशास्त्र की भूमि में दबा पड़ा था अपितु भारतीय दर्शनशास्त्र में भी इसका अंकुर विद्यमान था। व्यंजना का विचार प्रत्यग्र नहीं है जो रातोरात आनन्दवर्द्धन के मस्तिष्क से प्रस्तुत हो गया हो। शब्दशक्ति के रूप में व्यंजना तथा काव्य की आत्मा के रूप में ध्वनि का सूक्ष्म विचार उन्हें अपने पूर्वजों से धरोहर के रूप में मिला जिसे परिपुष्ट करके व्यवस्थित करने का श्रेय उन्हें मिलता है। जैसे दीप से घट प्रकाशित होता है वैसे ही शब्दों से ही उनमें छिपा अर्थ प्रकट होता है। व्यंग्य अर्थ शब्दों में ही अन्तर्हित रहता है। परन्तु विशेष परिस्थिति में वह प्रतिभावान् सहृदय को अवभासित होने लगता है। जैसे अन्धकार के कारण विद्यमान भी घट नहीं दिखाई देता। परन्तु व्यंजक दीपक के प्रकाश के पड़ते ही वह व्यंग्य घट अपने आप चमकने लगता है। इसी

1 परिनिश्चितनिरपभ्रंशशब्दब्रह्मणां विपश्चितां मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽयं ध्वनि-व्यवहारः, ध्वन्यालोक 3,33।

प्रकार शब्दार्थ मे व्यग्य अर्थ गूढ रहता है परन्तु सहकारी सामग्री के अभाव मे परिस्फुटित नही होता। भाव यह है कि व्यग्य अर्थ कही बाहर से नही आ टपकता वही विद्यमान रहता है परन्तु अभिव्यजक सामग्री के अभाव मे व्यक्त नही होता। इसी से मिलता जुलता विचार वेदान्त दर्शन मे भी है। यहा भी आत्मतत्व अपने मे ही है। अपने से बाह्य नही। 'सोऽहम्'—वह मैं हू। परन्तु जब तक माया का आवरण है यह तत्वज्ञान स्फुरित नही होता है। अज्ञान का आच्छादन हटते ही आत्मतत्व स्वय प्रकाशित होने लगता है। यह विचार व्यजना के स्वरूप से मेल खाता है। केवल व्याकरण तथा वेदान्त दर्शन के क्षेत्र मे ही नही काव्यशास्त्र के क्षेत्र मे भी व्यग्यत्व की स्फुरणा आनन्दवर्द्धन से पूर्ववर्ती आचार्यो को होने लगी थी। गुणरीति के स्थान पर ध्वनि ही काव्य की आत्मा की पदवी के योग्य है यह बात भी कुछ आचार्यो को जो काव्य का लक्षण नही काव्य के मर्म क अन्वषक थे स्फुरित हो रही थी। अतएव ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका म समाम्नातपूर्व की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है[3] पुस्तको मे विनिवेशित किए बिना ही मौखिक रूप म परम्परा से ध्वनि उन काव्यतत्वविेत्ता आचार्यो की गोष्ठी का विषय बनी हुई थी जो अलकार रीति के सिद्धान्त को काव्य के सौन्दर्य के मूल्याकन मे अनुपयुक्त समझते थे। गोष्ठियो म ध्वनि की चर्चा करने वाले य आचार्य काव्य के अन्तरतम को समझना चाहते थे। अत काव्य के बहिरग को स्पर्श करने वाले अलकार गुण सिद्धान्तो से पूर्णत सन्तुष्ट नही थे। अलकार और गुण तो वाच्यवाचकभाव पर आश्रित रहते है जो शरीर पक्ष होता है। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा तो कह दिया था परन्तु 'विशिष्टा पदरचना' रीति भी रचना ही थी। अत काव्य का बहिरग थी, अन्तरग नही। अत वामन ने जब काव्य के अन्तरतम को प्रोद्घाटित करने के लिए रीति के रूप म काव्य की आत्मा का विचार किया तब भी शब्द के सौन्दर्य के पारखी सहृदय वामन से सहमत न हो सके। पदरचना रूपी रीति भी काव्य का अन्तरग नही बन सकती थी। तब उन्हें व्यग्यार्थ ही काव्य की आत्मा के रूप म उपयुक्त प्रतीत हुआ। परन्तु व्यग्यार्थ को शब्द की

3 अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तैरेतदुक्त—विनापि विशिष्टपुस्तकेषु विनिवेशनात्। ध्वन्यालोक 1,1 लोचनम्

आत्मा मानते हुए तथा उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हुए भी ये सहृदय सिद्धान्त के रूप में इसे शब्दशास्त्र में प्रतिष्ठित न कर सके क्योंकि अभी तक वे ऐसी वृत्ति से अपरिचित थे जो ललनालावण्य के समान रमणीय इस अर्थ की प्रतीति कराने में पूर्णत समर्थ हो। इस प्रकार आनन्दवर्द्धन से पूर्व व्यंग्यार्थ सहृदयों के विचार का विषय तो बना हुआ था परन्तु व्यंजना के अभाव में ध्वनि के रूप में उसकी प्रतिष्ठा नहीं हुई थी। जब अस्फुट स्फुरित इस तत्व की स्थापना का प्रश्न आया तब आनन्दवर्द्धन को इसके द्योतन में समर्थ व्यंजना वृत्ति का उद्भावित करना पड़ा और उसकी पुष्टि के लिए उन्हें न केवल शाब्दिकों के स्फोट में तथा वेदान्त दर्शन में इसके सूक्ष्म सूत्र मिले अपितु अपने अग्रज काव्यशास्त्र के आचार्यों की बुद्धि में भी उन्हें यह तत्व परिस्फुरित होता हुआ दिखाई दिया। भरत ने जब नाट्यशास्त्र में

यदाऽन्योऽन्यार्थसम्भूतैर्विभावानुभावव्यञ्जितैरेकोनपञ्चाशद्भावैः।

""""विभावानुभावों में ४६ भावों की अभिव्यक्ति का उल्लेख किया तब से मानो आनन्दवर्द्धन की व्यक्ति का बीज काव्यशास्त्र की भूमि में बोया गया। आगे चलकर भी यह दण्डी, वामन, रुद्रट ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से काव्य में प्रतीयमान अर्थ की सत्ता को स्वीकार करते हुए व्यंजना के आविष्कार की सुदृढ़ पृष्ठभूमि तैयार कर दी। पर्यायोक्त, आक्षेप, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि अलंकारों में तथा दण्डी के समाधिगुण एवं साभिप्राय रूप प्रौढ़ि ओजगुण में अर्थ की प्रतीयमानता को स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त वामन ने काव्य में लक्षणा के महत्व को स्वीकार करते हुए व्यंजना के लिए तो मानों पूरा द्वार ही खोल दिया। इस प्रकार आनन्दवर्द्धन को अपने अग्रज काव्यशास्त्र के आचार्यों से भी व्यंजना को काव्यशास्त्र के क्षेत्र में स्थापित करने की प्रेरणा मिली। ध्वनि तथा उसका प्रतिपादन करने वाली व्यंजना वृत्ति का आभास काव्यशास्त्र के प्राच्य आचार्यों को हो गया था। परन्तु ये आचार्य शब्द अर्थ के प्रसंग में पुरानी चली आती हुई परम्पराओं से बाहर नहीं निकलना चाहते थे। वे नवीन तत्व ध्वनि को अलंकार और गुणरीति के पुराने चौखटे में ही सर्वथा फिट करना चाहते थे और व्यंजना को भी अभिधा तथा लक्षणा के मुखौटे से ही देखना चाहते थे। ध्वनि को अलंकार गुणरीति से भिन्न स्वतंत्र सिद्धान्त के रूप में स्वीकार न कर ये प्राच्य काव्यशास्त्री उसे

विपर्यय के कारण अलकार गुण का ही रूप समझते थे। अतएव ध्वनि की स्थापना करते समय आनन्दवर्द्धन के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे ध्वनि को गुण अलकार से पृथक् तत्व सिद्ध करके दिखाए और दोनों की परस्पर टकराती सीमाओ का विभाजन करें। इस उद्देश्य में आनन्दवर्द्धन पूर्णत सफल रहे। उन्होंने व्यग्य के प्राधान्य अप्राधान्य के रूप में एसी विभाजक रेखा निर्धारित की जिसमें ध्वनि को अलकारों से स्पष्ट रूप में विभक्त किया जा सका। उनके द्वारा व्यवस्थापित इस सरणि का सभी परवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने अनुसरण किया।

आनन्दवर्द्धन का ध्वनिसिद्धान्त को सबसे बड़ा योगदान व्यग्यार्थ तथा उसके प्रत्यायक व्यापार के उद्भावन में इतना नहीं है जितना ध्वनि को अलकार तथा रीति से तथा व्यजना को अभिधा लक्षणा से पृथक् स्वतन्त्र शक्ति के रूप में स्थापित करने में है आनन्दवर्द्धनोत्तर आचार्य रुय्यक तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने स्पष्ट कहा है—[4] प्राचीन अलकारकार तीनों प्रकार (वस्तु, अलकार, रस) के व्यग्य से परिचित हैं तथा पर्यायोक्त अलकार की कुक्षि में व्यग्य प्रपञ्च समाया है। अत आनन्दवर्द्धन से पूर्व व्यग्यार्थ की सत्ता तो थी ही परन्तु आवश्यकता इस बात को सिद्ध करने की थी कि वह व्यग्य ही काव्य की आत्मा है और वह अलकार रीति से ऊपर व्यवस्थित है, उनसे भिन्न है और ध्वनि नाम का अधिकारी है। ऐसा स्थापित हो जाने पर ही काव्य के क्षेत्र में ध्वनि की केवल सत्ता नहीं उसका सद्भाव यथार्थ रूप में प्रतिष्ठित हो सकता था। अतएव आनन्दवर्द्धन तथा उसके अनुयायियों पर दोहरा उत्तरदायित्व था। प्रथम तो अलकार रीति सिद्धान्तों में ध्वनि का अन्तर्भाव करने वाले विपक्षियों के आक्षेपों का उपमर्दन करना था तथा दूसरी ओर अभिधा लक्षणा से अतिरिक्त शब्द के किसी अन्य व्यापार को स्वीकार न करने वाले दार्शनिकों तथा प्राच्य भाषाविदों से लोहा लेना था। काव्यशास्त्र में आनन्दवर्द्धन की सबसे बड़ी उपलब्धि इस लक्ष्य की सिद्धि में पाई जाती है। उन्होंने विरोधियों के प्रबल प्रहारों का प्रतिकार करके स्थापित कर दिया कि ध्वनि ही काव्य का परमतत्व है। ध्वनि ही काव्य का अशेष-

4 इह हि तावद्भामहोद्भटप्रभृतयः चिरन्तनालकारकाराः प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारकतया अलकारपक्षनिक्षिप्तं मन्यन्ते—रुय्यक, अलकारसर्वस्व पृ० 3

लक्ष्यव्यापी सिद्धान्त बन सकता है जिसकी परिधि में सम्पूर्ण काव्य का मूल्यांकन किया जा सकता है। यही काव्य का परमोत्तम निकषोपल है सर्वांगी सम्पूर्ण व्यापक सिद्धान्त है।

व्यंजना और ध्वनि दोनों कालिदास के अर्धनारीश्वर के समान परस्पर सम्पृक्त हैं। दोनों एक दूसरे में शरीर और प्राण के समान समाए हैं। काव्य के इस परमोत्तम सिद्धान्त की व्यंजना के बल पर परस्थापना करने वाले आनन्दवर्द्धन वस्तुतः सहृदयों के आनन्दवर्द्धन हो गए जैसा कि उनकी प्रशस्ति में राजशेखर ने अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा—

ध्वनिनातिगभीरेण काव्यतत्त्वनिवेशिना ।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः ॥

5

मम्मट और ध्वनि-प्रस्थापन

डा० राममूर्ति शर्मा

अलकार शास्त्र के क्षेत्र मे मम्मट ने यो किसी प्रस्थान ग्रन्थ की रचना नही की, परन्तु फिर भी वे आचार्य ही नही परमाचार्य भी कहलाते हैं। यद्यपि उनका महनीय ग्रन्थ-काव्यप्रकाश एक समन्वयात्मक ग्रन्थ है परन्तु फिर भी उसका महत्त्व कई एक प्रस्थान ग्रन्थो से अधिक है, यह स्वीकार करने मे सङ्कोच नही किया जा सकता। अपने इसी विलक्षण कृतित्व के आधार पर विद्वानों ने इन्हें 'वाग्देवतावतार' कहा है। ध्वनि-सिद्धान्त के प्रस्थापक होने के नाते मम्मट ध्वनि प्रस्थापन-परमाचार्य के रूप मे प्रसिद्ध हैं। किन्तु मम्मट के ध्वनि-परमाचार्यत्व के सम्बन्ध मे प्रश्न चिह्न स्वाभाविक है। इसका कारण यह है कि ध्वनि सिद्धान्त के प्रमुख प्रस्थापक आचार्य तो आनन्दवर्द्धन ही कहे जा सकते हैं। जिन्होंने 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति यः समाम्नातपूर्वं' कह कर ध्वनि को काव्य का आत्मा सिद्ध करके ध्वन्यालोक के अन्तर्गत ध्वनि सिद्धान्त का साङ्गोपाङ्ग निरूपण किया है। जैसा कि आनन्दवर्द्धन के 'समाम्नातपूर्वं' एव स्वय मम्मट के 'इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथित' से स्पष्ट है, ध्वनि सिद्धान्त की स्थिति तो आनन्दवर्द्धन से पूर्व भी वैयाकरणो के स्फोटवाद सिद्धान्त के अन्तर्गत विद्यमान थी। वैयाकरणो के सिद्धान्तों में ध्वनि-सिद्धान्त के बीजान्वेषण के सम्बन्ध मे भर्तृहरि का नाम साधिकार लिया जा सकता है। भर्तृहरि के वाक्यपदीय मे वर्तमान स्फोटवाद के अन्तर्गत

ध्वनि सिद्धान्त के बीज स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं।

इस प्रकार वैयाकरणों के स्फोटवाद के मूल प्रवर्तक भर्तृहरि ध्वनिसिद्धान्त के प्रथम आचार्य कहे जा सकते हैं। तदनन्तर ध्वनि के प्रधान आचार्य आनन्दवर्द्धन ही समझे जा सकते हैं। अत ध्वनि सिद्धान्त के सन्दर्भ में मम्मट का आचार्यत्व किस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है यह प्रश्न स्वाभाविक है। इस सम्बन्ध में यह कथन अनुचित न होगा कि यद्यपि भर्तृहरि एवं आनन्दवर्द्धन् के द्वारा स्फोट-सिद्धान्त एव ध्वनि सिद्धान्त का सम्यक् विवेचन किया जा चुका था परन्तु अनेक ध्वनि-विरोधी आचार्यों द्वारा ध्वनि-सिद्धान्त को निर्मूल करने का प्रयत्न किया जा रहा था। इन ध्वनि विरोधी आचार्यों में महिमभट्ट प्रधान थे। इन्होंने 'अनुमितिवाद' सिद्धान्त का प्रतिपादन करके ध्वनि सिद्धान्त का खण्डन कर व्यंग्यार्थ का काम अनुमिति से चलाने की बात कही थी। इसके अतिरिक्त अखण्डबुद्धिवादियों एवं बौद्धों ने भी ध्वनि सिद्धान्त का विरोध किया था। मीमांसक भी ध्वनि विरोधी ही थे। इस विरोध के द्वारा आनन्दवर्द्धन द्वारा प्रस्थापित ध्वनि-सिद्धान्त की जड़ें हिलती जा रही थीं। इस स्थिति में एक ऐसे आचार्य की अपेक्षा थी जो ध्वनिविरोधी आचार्यों के मतों का युक्तिपूर्वक निराकरण करके ध्वनिसिद्धान्त की पुन प्रस्थापना कर सकता। यह महान् कार्य आचार्य मम्मट द्वारा सम्पन्न हुआ था और इसी लिए आचार्य मम्मट ध्वनि-प्रस्थापन परमाचार्य कहलाते हैं। अब हम यहां मम्मट के ध्वनि प्रस्थापन के सम्बन्ध म विवेचन करेंगे।

मम्मट ने ध्वनि की परिभाषा करते हुए कहा है कि अनुरणन अर्थात् अनुस्वान के समान जिसका क्रम लक्ष्य है, ऐसे व्यंग्यार्थ की स्थिति जिसके अन्तर्गत होती है, वह लक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि है। यह ध्वनि शब्द, अर्थ तथा शब्दार्थ की व्यञ्जना द्वारा उत्पाद्य होने के कारण तीन प्रकार की कही गयी है।[1] मम्मट ने संक्षेप में ध्वनि के तीन भेद किए हैं। ये भेद वस्तुध्वनि अलंकारध्वनि तथा रसध्वनि हैं। प्रथमत ध्वनि के दो मूल सिद्धान्त हैं —वाच्यतासह और वाच्यताअसह। वाच्यतासह वह अर्थ है जिसका अभिधा

1. अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यंग्यस्थितिस्तु य ।
शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिविधा स कथितो ध्वनि ॥
काव्यप्रकाश 4.37

वृत्ति से बोध होता है। यह दो प्रकार का है—अविचित्र तथा विचित्र। अलकार रहित जो वस्तुमात्र व्यग्य है, वह अविचित्र है। यही वस्तुध्वनि है। जो अलकार रूप से व्यग्यार्थ है, वह विचित्र है और यही अलकार-ध्वनि है। वस्तु ध्वनि तथा अलकार ध्वनि वाच्य तथा व्यग्य दोनों है। किन्तु तीसरी रस ध्वनि सदैव व्यग्य ही होती है, वाच्य कदापि नही। इसी लिए यह वाच्यना असह अर्थ कहलाता है। ध्वनि के दो मुख्य भेद हैं। —अविवक्षित वाच्य अर्थात् लक्षणा-मूलक ध्वनि और विवक्षितान्य—पर वाच्य अर्थात् अभिधामूलक ध्वनि। अविवक्षित वाच्य के दो भेद हैं—१ अर्थान्तरसङ्क्रमित और अत्यन्ततिरस्कृत। इसी प्रकार विवक्षितान्यपर-वाच्य ध्वनि के भी दो भेद हैं—१ असलक्ष्यक्रमव्यग्य और २—सलक्ष्यक्रम-व्यग्य असलक्ष्यक्रम-व्यग्य-ध्वनि उपर्युक्त रसध्वनि के अन्तर्गत आती है। सलक्ष्यक्रम-व्यग्य ध्वनिया वस्तु तथा अलकार-ध्वनि के अन्तर्गत आती हैं। अर्थान्तरसक्रमित और अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य ध्वनि वस्तुध्वनि के अन्तर्गत आती हैं।

आचार्य मम्मट ने व्यजना का प्रस्थापन करते हुए कहा है कि ध्वनि के सभी भेदो मे व्यजना की अनिवार्यता है। इसी विषय का विवेचन यहा मम्मट के मतानुसार किया जाएगा।

अविवक्षित-वाच्य-ध्वनि (लक्षणामूलक ध्वनि) के अन्तर्गत व्यंजना की अनिवार्यता

जैसा कि कहा जा चुका है, अविवक्षित-वाच्य-ध्वनि के दोनो भेदो मे अर्थान्तर-सक्रमितवाच्य ध्वनि एव अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य ध्वनि के अन्तर्गत वस्तु मात्र व्यग्य होता है, वह लक्षणा के प्रयोजन के रूप मे है, इसी लिए इसे लक्षणामूलक ध्वनि कहते हैं। वस्तु मात्र प्रयोजनरूप व्यग्य के बिना लक्षणा असम्भव है। यदि उस वस्तु रूप व्यग्य को भी लक्ष्य माना जाएगा तब तो उस लक्षणा का भी कोई अन्य प्रयोजन स्वीकार करना पड़ेगा और इस प्रकार अनवस्था हो जाएगी। अत व्यजना को मानना अनिवार्य हैं। यहा पूर्वपक्षी यह कह सकता है कि गगाया घोष के अन्तर्गत तटनिष्ठ पावनात्वादि को लक्ष्य मानने मे घोषनिष्ठ पावनत्वादि प्रयोजन व्यग्य हैं। अत शैत्यपावनत्वविशिष्ट तट जो व्यग्य कहा जाता है वह लक्ष्य हो सकता

है। इस पर मम्मट का आक्षेप है कि प्रयोजन की उक्त परम्परा तो मूल को ही विनाशकारिणी सिद्ध होगी, क्योंकि इससे तो एक प्रयोजन का दूसरा प्रयोजन और दूसरे प्रयोजन का तीसरा प्रयोजन, इस प्रकार अनवस्थित प्रयोजन-परम्परा चलती रहेगी। इसका यह परिणाम होगा कि 'गंगायांघोष' से न तो शैत्यपावनत्वविशिष्ट तट रूप प्रयोजन की सिद्धि होगी और न तटरूप लक्ष्यार्थ की ही प्रतीति होती। अत ऐसी अनवस्था तो मूलक्षयकारिणी ही सिद्ध होगी।[2]

संलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि (अभिधामूलक ध्वनि) [redacted] अन्तर्गत व्यंजना की अनिवार्यता

अभिधामूलक ध्वनि के प्रमुख रूप से तीन भेद हैं। ये तीन भेद— शब्दशक्तिमूलक ध्वनि अर्थशक्तिमूलक ध्वनि एव शब्दार्थोभयशक्तिमूलकध्वनि हैं। शब्दशक्तिमूलक भेद के अन्तर्गत शब्द के अनेक अर्थों मे से एक अर्थ प्रकरणादि द्वारा नियत हो जाता है। अभिधावृत्ति इसी नियत अर्थ का बोध करा सकती है। किन्तु जब उस शब्द के द्वारा नियतार्थ के अतिरिक्त जो वस्तुरूप अर्थ का बोध होता है, तब वह वाच्य न हो कर व्यंग्य ही होता है। अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के सम्बन्ध मे व्यञ्जना की अनिवार्यता का प्रतिपादन करते हुए मम्मट ने अनेक अभिधावादी मतो का निराकरण किया है। यहा इनमे से कतिपय प्रमुख मतो के सम्बन्ध मे विवेचना करना उपयुक्त होगा।

अभिहितान्वयवाद और उसका निराकरण

कुमारिल भट्ट प्रभृति मीमासको द्वारा स्वीकृत अभिहितान्वयवाद के सम्बन्ध मे मम्मट का कथन है कि अभिहितान्वयवाद मे विशेष (व्यक्ति अथवा पदार्थों का ससर्ग) मे सकेत करना सम्भव नही है, अत सामान्य रूप पदार्थों की आकाक्षा, सन्निधि तथा योग्यता के कारण होने वाला परस्पर ससर्ग जो कि विशेष रूप है वह किसी पद का अर्थ न होकर तात्पर्य वृत्ति द्वारा बोध्य

2 एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी।
का० प्र० 2:26

वाक्यार्थ है। अर्थशक्तिमूलक ध्वनि (वस्तु तथा अलकार रूप ध्वनि) की अभिधेयता कैसे सम्भव हो सकती है।[3] अभिहितान्वयवादियो के वाक्यार्थ बोध का क्रम इस प्रकार है कि वाक्य मे प्रयुक्त पद पहले अपने अभिधेयार्थ का बोध कराते हैं और उसके बाद आकाक्षा, योग्यता एव सन्निधि के द्वारा उन पदो का परस्पर अन्वय होता है। तत्पश्चात् परस्पर अन्वित पद तात्पर्य वृत्ति के द्वारा वाक्यार्थ का बोध कराते हैं। यहा मम्मट का यह कथन युक्तिपरक है कि जब वाक्यार्थ का बोध ही अभिधा शक्ति के द्वारा नही हो सकता तो फिर वाच्यार्थ से कोसो दूर व्यग्यार्थ के बोध का प्रश्न अभिधा शक्ति द्वारा किस प्रकार सम्भव है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि व्यग्यार्थ अभिधेयार्थ कदापि नही हो सकता।

अन्विताभिधानवाद और उसका निराकरण

प्रभाकर के अनुयायी मीमासक वाक्यार्थबोध के सम्बन्ध मे अन्विताभिधानवाद का अनुसरण करते हैं। अन्विताभिधानवाद के अनुसार अभिधा शक्ति के द्वारा वाक्य के अन्तर्गत अन्वित पदो के अर्थ की प्रतीति होती है। वाक्य के अन्तर्गत समस्त पदो के अन्वित होने के पश्चात् अभिधाशक्ति के द्वारा वाक्य के वाच्यार्थ का बोध होता है। इस प्रकार अन्विताभिधानाही न तो पदों के स्वतत्र अर्थ के बोध की बात करते हैं आर न तात्पर्य जैसी किसी अन्य शक्ति को स्वीकार करते है। इस प्रकार प्रभाकर के मतानुसार वाक्यार्थ की ही प्रमुखता है।[4] अन्विताभिधानवादी के वाक्यार्थबोध के अनुसार जब कोई उत्तम वृद्ध किसी मध्यम वृद्ध से कहता है कि देवदत्त गाय ले आओ तो बालक देखता है कि मध्यम वृद्ध एक सास्नादिमान् विशेष प्रकार के पशु को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता है। यह देखकर बालक देवदत्त की चेष्टा से इसने 'इस वाक्य मे इस प्रकार का अर्थ ग्रहण किया' ऐसा अनुमान करके उस अखड वाक्य एव वाक्यार्थ मे अखड

3 अर्थशक्तिमूलेऽपि विशेषे संकेत कर्तुं न युज्यते इति सामान्यरूपाणा पदार्थानामाकाङ्क्षा-सन्निधि-योग्यतावशात् परस्पर-ससर्गो यत्रापदार्थोऽपि विशेषरूपो वाक्यार्थस्तत्राभिहितान्वयवादे का वार्ता व्यग्यस्याभिधेयतायाम्। का० प्र० 56

4. वाक्यार्थेन व्यवहार. बृहती, पृ० 199

रूप से अर्थापत्ति प्रमाण केद्वारा वाच्यवाचक सम्बन्ध मान लेता है। इसके बाद 'चैत्र गाय लाओ' 'देवदत्त अश्व लाओ' देवदत्त गाय ले जाओ' इत्यादि वाक्यों का प्रयोग सुनता है तथा गौ आदि का आनयन (लाना) तथा नयन (ले जाना) प्रत्यक्ष देखता है। इसके पश्चात् तत् तत् पदो का अर्थ-बोध बालक अन्वयव्यतिरेक के द्वारा करता है। इस दृष्टि से अर्थ का बोध वाक्य ही है इस प्रकार बालक प्रत्यक्ष, अनुमान तथा अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा वाक्यार्थ की प्रतीति करता है।

अन्विताभिधानवादी के सिद्धान्त के सम्बन्ध मे यह आक्षेप स्वाभाविक है कि जब 'गामानय' (गाय लाओ) एवं 'अश्वमानय' (अश्व लाओ) मे 'आनय' पद एक ही है तो 'गामानय' मे जब 'आनय' से गाय का लाना अर्थ लिया जाता है तो उससे अश्व के आनयन का अर्थ किस प्रकार ग्रहण किया जा सकता है क्योकि अश्व और गाय दोनो का आनयन पृथक् है। इस आक्षेप के समाधान के लिए अन्विताभिधानवादी ने सामान्य तथा विशेष तत्त्वो की कल्पना की है। जब किसी एक वाक्य मे प्रयुक्त शब्दो का प्रयोग दूसरे वाक्य म देखा जाता है तो बोद्धा प्रत्यभिज्ञान द्वारा उन पदो का अर्थ ग्रहण करता है। इस प्रकार यद्यपि सामान्य रूप से अन्य पदार्थों से अन्वित पदार्थ ही सकेत का विषय है, तथापि सामान्य रूप (इतरान्वित आनयन) से आच्छादित विशेष रूप (घटानयन) मे ही सकेत ग्रहण होता है क्योकि परस्पर अन्वित पदार्थ विशेष रूपही हुआ करते है, सामान्य रूप नही। इसका कारण यह है कि बिना विशेष के कोई सामान्य नही रह सकता—'निर्विशेषम् न सामान्यम्' इस प्रकार जो परस्पर अन्वित पदार्थ होते हैं वे विशेष रूप ही होते हैं। अन्विाभिधानवादी उपर्युक्त तर्क के सम्बन्ध मे मम्मट का तर्क है कि जब केवल सामान्य रूप से अर्थात् इतरपदार्थान्वित आनयनत्व आदि रूप से ही गवानयन आदि विशेष पदार्थ सकेत का विषय है, अभिधाव्यापार का विषय नही है तो अत्यविशेष पदार्थ—' नि शेषच्युत चन्दनम्" उदाहरण के अन्तर्गत 'उस अधम के समीप नही गई थी, इस वाक्यार्थ से 'उसके पास गई थी' यह विधिरूप व्यग्यार्थ वाच्यार्थ के रूप मे किस प्रकार ग्रहण किया जा सकता है।

इस प्रकार अभिहितान्वयवाद एव अन्विताभिधानवाद दोनो का निरा-करण करते हुए मम्मट का कथन है कि अभिहितान्वयवाद मे अन्वित अर्थात् ससर्ग रहित अर्थ अभिधा का विषय है और अन्विताभिधानवाद मे

अपर पदार्थ मात्र से अन्विन अर्थ ही अभिधा का विषय है । अतः जो अन्वित विशेष रूप अर्थ है, वह अभिधा का विषय नहीं हो सकता। वह तो व्यंजना का ही साध्य है।

निमित्तनैमित्तिकवाद और उसका निराकरण

निमित्तनैमित्तिकवादी मीमांसकों का का कथन है कि 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' (नैमित्तिक के अनुसार ही निमित्त की कल्पना की जाती है) इस न्याय के अनुरूप नैमित्तिक व्यंग्य अर्थ की प्रतीति का कोई अन्य निमित्त न होकर शब्द ही निमित्त है क्योंकि शब्दश्रवण के पश्चात् ही नैत्तिमकि व्यंग्य का बोध होता है, अन्यथा नही। इस प्रकार निमित्त शब्द अपनी शक्ति अभिधा द्वारा ही व्यंग्य अर्थ का बोध कराता है। इस सम्बन्ध में मम्मट का तर्क है कि शब्द मीमांसक के अनुसार जनक है या प्रकाशक। मीमांसक के अनुसार शब्द अर्थ का जनक तो इसलिए नहीं हो सकता कि यह प्रतीयमान अर्थ को उत्पन्न न करके उसे व्यक्त मात्र करता है। हा यह प्रकाशक (ज्ञापक) हो सकता है। किन्तु प्रश्न यह है कि ज्ञापन या प्रकाशन उसी अर्थ का हो सकता है जो पहिले से वर्तमान हो किन्तु व्यंग्यार्थ तो पहिले से वर्तमान नहीं होता। इस प्रकार मीमांसकों की निमित्तनैमित्तिकवाद की कल्पना निरर्थक है।

भट्टलोल्लट का दीर्घदीर्घतरामिधाव्यापारवाद और उसका निराकरण

भट्ट लोल्लट प्रभृति अभिधावादियो का विचार है कि जिस प्रकार बाण का व्यापार दीर्घ-दीर्घतर होकर शत्रु का वर्मच्छेद तथा मर्मभेदन करके प्राण हरण कर लेता है । उसी प्रकार सुकवि प्रयुक्त एक ही शब्द अभिधा व्यापार से वाच्यार्थ, अन्वयबोध एवं व्यंग्य अर्थ की प्रतीति करा देता है। मीमांसक का कथन है कि 'यत् परः शब्दः स शब्दार्थः' इस सिद्धान्त के अनुसार व्यंग्य के प्रकरण मे शब्द का तात्पर्य व्यंग्यार्थ का बोध होना है। इस मत के अनुसार व्यंग्यार्थ की अभिधा द्वारा प्रतीति होती है। अतः व्यंजना व्यापार को मानने की कोई आवश्यकता नही है।

मीमांसक के उपर्युक्त तर्क के सम्बन्ध में मम्मट का तर्क है कि मीमा-

सक द्वारा 'यत् पर शब्द स शब्दार्थ' इस न्याय का समुचित अर्थ नही गृहीत हुआ है, क्योकि 'यत् पर शब्द स शब्दार्थ' इस न्याय का वास्तविक अर्थ यह है कि 'यदेव विधेयम् तत्रैव तात्पर्यम्' (विधि वाक्यो मे क्रिया साध्य है।) उसके लिए ही कारक शब्दो का प्रयोग किया जाता है। प्रधान क्रिया के सम्पादन के लिए कारको की निजी क्रियायें भी होती हैं। उदाहरण के लिए 'गामानय' मे 'आनयन' प्रधान क्रिया है और गौ का चलना गौण क्रिया। प्रधान क्रिया की निर्वाहक अपनी क्रिया के सम्बन्ध मे कारकों मे भी कुछ साध्यांश हो जाया करता है। इस प्रकार वाक्य म कुछ वस्तु पहले से ही सिद्ध रूप मे होती है और कुछ साध्य रूप मे। साध्य वस्तु अप्राप्त होती है, उसकी सिद्धि करनी होती है। इस प्रकार 'अवग्रहन न्याय' से उसका ही विधान होता है। अत 'यत् पर' इत्यादि न्याय का भाव यह है कि जो अन्य प्रमाण आदि से प्राप्त नही है शब्द का उसी मे तात्पर्य है।

'उपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यम्' के अनुसार जिस अर्थ मे तात्पर्य होता है उस अर्थ का वाचक शब्द वाक्य मे गृहीत होता है। इस प्रकार जिस शब्द का वाक्य मे ग्रहण नही होता उसके अर्थ मे तात्पर्य नही हो सकता। इसके विपरीत यदि वाक्य से प्रतीत होने वाले प्रत्येक अर्थ मे शब्द का तात्पर्य होने लगे तब तो 'पूर्वो धावति' (पहिला दौड़ता है) का तात्पर्य 'अपरो धावति' (दूसरा दौड़ता है) मे भी होने लगेगा। क्योकि 'पूर्व शब्द' से विलोम रूप म 'अपर' अर्थ की भी प्रतीति हो सकती है। इस प्रकार 'यत् पर' न्याय के अनुसार अभिधावृत्ति के द्वारा व्यग्यार्थ की प्रतीति नही हो सकती, क्योकि वह व्यग्य अर्थ का वाचक और कोई शब्द वाक्य मे गृहीत नहीं हुआ करता।

मीमासक का कथन है कि 'विष खा लो पर इसके घर मत खाओ' इस वाक्य मे 'इसके घर भोजन न करो इस अर्थ में तात्पर्य है और वही वाक्यार्थ है। अत इस वाक्यार्थ मे 'उपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे' वाले नियम की चरितार्थता देखने में नही आती। इस सम्बन्ध मे मम्मट का समाधान है कि 'विषम् भक्षय या चास्य गृहे भुङ्क्था' उदाहरण के अन्तर्गत 'विष भक्षय' दोनो वाक्यो की एकवाक्यता सूचित करने के लिए है। यद्यपि 'भक्षय' और 'भुङ्क्था' इन दो तिङन्त घटित वाक्यो का अगागिभाव नही हो सकता तो भी मित्र का वाक्य होने के कारण विष भक्षण वाक्य में

दूसरे वाक्य में अंगता की कल्पना करनी होगी। इस प्रकार इसके घर भोजन करना विष भक्षण से भी अधिक दोषयुक्त है। इस लिए किसी प्रकार भी इसके घर न खाओ इत्यादि उपात्त (प्रयुक्त) शब्दों के अर्थ म ही तात्पर्य है।

दीर्घ-दीर्घतराभिधाव्यापार के विरोध में मम्मट का तर्क है कि यदि किसी शब्द के सुनने के पश्चात् जितना अर्थ उपलब्ध होता है उतने में शब्द का अभिधा व्यापार ही समर्थ है तो 'हे ब्राह्मण तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ है' तथा हे ब्राह्मण तुम्हारी कन्या (अविवाहित पुत्री) गर्भिणी है' इत्यादि वाक्यों में हर्ष और शोक आदि भी वाच्य क्यों न मान जायें और लक्ष्य अर्थ में भी लक्षणा क्यों मानी जाए। क्योंकि इषुवत् दीर्घ-दीर्घतर (शब्द के) अभिधाव्यापार से ही लक्ष्यार्थ की प्रतीति हो जाएगी।

वाच्य-वाचक-भाव और व्यंग्य-व्यंजक-भाव का भेद

आचार्य मम्मट का कथन है कि व्यंजना वृत्ति पर आश्रित व्यंग्यव्यंजक भाव को स्वीकार न करके वाच्य-वाचक-भाव को स्वीकार किया जाएगा तो असाधुत्व (व्याकरण की अशुद्धि) आदि के नित्य दोषों तथा श्रुतिकटुत्व (श्रुति-कटुत्व) आदि अनित्य दोषों का विभाग करना सम्भव न होगा, किन्तु यह विभाग देखने में आता है। ऐसी स्थिति म तो श्रुतिकटुत्व अनित्य दोष न हो कर नित्य दोष ही हो जाएगा। अतः व्यंग्य व्यंजक भाव को स्वीकार करना अनिवार्य है।

वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का भेद

मम्मट की दृष्टि से वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद स्फुट है। वाच्यार्थ समस्त बोद्धाओं के प्रति एक ही होता है, इसलिए वह नियत है। किन्तु व्यंग्यार्थ भिन्न-भिन्न प्रकरण के भिन्न भिन्न वक्ता और बोद्धा की दृष्टि से अनेक रूप का होता है। अतः वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ कदापि नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए 'गतोऽस्तमर्कः' इस वाक्य का वाच्यार्थ तो 'सूर्य अस्त हो गया' यही होता है किन्तु इसके राजा के सेनापति के प्रति कहने पर "शत्रु के प्रति आक्रमण का

अवसर है तथा इसी के अभिसारिका के प्रति रहने पर 'तेरा प्रियतम आने को है' आदि अनेक होते हैं।

वाचकता और व्यंजकता का भेद

आचार्य मम्मट के कथन के अनुसार वाचकता और व्यंजकता मे भेद है। वाचक शब्द को सांकेतिक अर्थ की अपेक्षा है, किन्तु व्यंजक को उस सांकेतिक अर्थ की अपेक्षा नही है। अत वाचकता ही व्यंजकता नही है।

व्यंग्यार्थ लक्षणावृत्ति द्वारा बोध्य नहीं है।

नैयायिक आदिको का यह कथन औचित्यपूर्ण नही है कि लक्षणीय अर्थ की अनेकता होने के कारण व्यंजना का कार्य लक्षणा से ही चलाया जा सकता है। आचार्य मम्मट का कथन है कि लक्षणीय अर्थ की अनेकता होने पर भी अनेक अर्थ वाले शब्दो के वाच्यार्थ के समान वह नियत सम्बन्ध वाला ही है, क्योकि मुख्य अर्थ से जिसका सामीप्य एवं सादृश्य आदि सम्बन्ध नही है, वह लक्ष्यार्थ नही हो सकता। किन्तु प्रतीयमान (व्यंग्य) अर्थ तो प्रकरण आदि की विशेषता के कारण नियत सम्बन्ध वाला भी होता है और अनियत वाला भी। इसके साथ ही वह सम्बद्ध-सम्बन्ध वाला भी होता है। इसके अतिरिक्त लक्षणा मे भी प्रयोजन प्रतीति के लिए व्यंजना का आश्रय अवश्य लेना पडता है।[5] व्यंजना व्यापार लक्षणात्मक नही हो सकता क्योकि लक्षणा के पश्चात् व्यंजना की प्रवृत्ति देखी जाती है। इसके अतिरिक्त अभिधामूलक व्यंजना मे लक्षणा का अनुसरणभी नही देखा जाता है। अत निश्चय ही व्यंजनाशक्ति, तात्पर्य शक्ति तथा लक्षणा शक्ति से भिन्न है।

5 यस्य प्रतीतिमाधातु लक्षणा समुपास्यते ॥14॥
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ॥

का० प्र०, 2:15

ब्रह्मवादी का सिद्धान्त और उसका निराकरण

ब्रह्मवादी का तर्क है कि वाक्य अखण्ड है, अतः उसमें क्रिया व कारक आदि का विभाग नहीं हो सकता। क्योंकि क्रिया-कारक भाव तो धर्म धर्मि-भाव के आश्रित है। किन्तु वाक्य के अखण्ड होने के कारण उसमें धर्म-धर्मिभाव अनुपपन्न है। ब्रह्म के निर्गुण होने के कारण उसमें भी धर्म-धर्मिभाव अनुपपन्न है। इस प्रकार वाक्य का अर्थ-ग्रहण अखण्ड रूप में ही होता है। ब्रह्मवादी की दृष्टि से वाक्य ही वाचक है और वाक्यार्थ ही वाच्य है तथा व्यंग्यार्थ का भी वाक्य द्वारा ही बोध हो सकता है।

ब्रह्मवादी की उक्त तर्कना का उत्तर देते हुए मम्मट का कथन है कि जिस प्रकार ब्रह्मवादी अखण्ड ब्रह्मतत्त्व के अतिरिक्त व्यावहारिक सत्य को स्वीकार करता है तथा अनेक सांसारिक भेद-प्रभेदों की कल्पना करता है उसी प्रकार वाक्य के अखण्ड होने पर भी उसमें पद-पदार्थ की कल्पना संगत है। इस प्रकार की अविद्याकृत कल्पना के बिना अखण्ड अर्थ के साथ अखण्ड वाक्य का वाच्य-वाचक-भाव भी अनुपपन्न है क्योंकि परमार्थ दृष्टि से वाच्य और वाचक में अभेद है। इसलिए व्यवहार दशा में वेदान्तियों को भी व्यंजना वृत्ति को स्वीकार करना ही पड़ेगा। इस प्रकार मम्मट ने व्याकरण एवं वेदान्ती दोनों के ही मतों का निराकरण किया है।

अनुमितिवादी महिमभट्ट के मतों का निराकरण

व्यंजनावृत्ति के विरोधी व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट का विचार है कि अनुमान द्वारा ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है क्योंकि व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से नितान्त-असंबद्ध नहीं होता। यदि ऐसा हुआ होता तो किसी भी अर्थ की व्यंजना होने लगती। अतः वाच्य और व्यंग्य में सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध नियत सम्बन्ध है जिसे व्याप्ति या प्रतिबन्ध कहते हैं। उस सम्बन्ध के नियत होने के कारण ही सहृदयों को नियमतः व्यंग्य की प्रतीति होती है। अतः व्यंग्य-व्यञ्जक भाव वस्तुतः अनुमाप्य-अनुमापक रूप है और व्यंग्य प्रतीति अनुमिति है 'त्रिरूपात् लिङ्गात् लिङ्गज्ञानमनुमानम्' त्रिरूप हेतु इस सिद्धान्त के अनुसार है। साध्य का ज्ञान ही अनुमान है। लिंग की त्रिरूपता का अभिप्राय पक्षसत्त्व,

सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्व से है। उदाहरण के लिए धूमाग्नि के दृष्टान्त में धूम अग्नि का लिङ्ग है और पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात्' में पर्वत मे वह्नि साध्य अथवा लिङ्गी है। इस दृष्टान्त मे धूम पर्वतरूप पक्ष मे विद्यमान है और रसोई रूप सपक्ष म वर्तमान है किन्तु सरोवररूप विपक्ष में धूम वर्तमान नही है। इस प्रकार यह धूम (लिङ्ग) उपर्युक्त लक्षणात्रय-सम्पन्न है। इस प्रकार अनुमितिवादी का कथन है कि जो व्यजक है वह लिङ्ग धूम है और व्यग्य साध्य अथवा लिङ्गी है। व्यजकरूप लिङ्ग मे व्याप्तत्व (सपक्षसत्व) है अर्थात् प्रसिद्ध व्यग्यार्थों के स्थल म व्यजक अवश्य रहता है। इसम नियतत्व (विपक्षासत्व) है अर्थात् वाच्य आदि स्थलो मे व्यजक नहीं होता और इसम धर्मिनिष्ठत्व (पक्षत्व) भी है अर्थात् जिज्ञासित व्यग्य स्थल म व्यंजक भी विद्यमान है। अत एव व्यजक द्वारा व्यग्य की प्रतीति अनुमान ही है। उदाहरण के लिए अनुमितिवादी का कथन है कि भ्रम धार्मिक' इस उदाहरण म सिहकृतश्वनिवृत्ति से गृह भ्रमण का विधान रूप वाच्यार्थ ही व्यजक है। यहा इस प्रकार व्याप्ति ग्रहण होता है—यद् यद् भीरुभ्रमणम् तत्तद् भयकारणाभावज्ञानपूर्वकम्।"

किन्तु गोदावरी के तट पर सिंह की उपलब्धि है, अत यहा भीरु-भ्रमण-निषेध व्यग्य है, क्योंकि भीरु-भ्रमण (प्रतिषेध) के व्यापक भयकारणा-नुपलब्धि के विरुद्ध सिंह की उपलब्धि हो रही है। अत अनुमान का स्वरूप इस प्रकार होता है—गोदावरी तीर भीरु-भ्रमणायोग्य भयकारण-सिंहोपलब्धे। इस प्रकार अनुमितिवादी का कथन है कि जिस प्रकार उक्त उदाहरण म अनुमान द्वारा व्यग्य की प्रतीति होती है, उसी प्रकार रस आदि की अभिव्यक्ति भी अनुमान द्वारा ही सम्भव है अत व्यजना वृत्ति की कल्पना निरर्थक है।[6]

महिमभट्ट के अनुमितिवाद का खण्डन करते हुए आचार्य मम्मट का कथन है कि 'भ्रम धार्मिक' इस उदाहरण म हेतु सत् न होकर असत् है। इस प्रकार हेत्वाभास है। अत इसके साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। स, हेतु के सम्बन्ध म मम्मट का कथन है कि कुत्ते से डरने वाले के लिए

6 अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वने प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमापरां वाचम्॥
व्यक्तिविवेक

गोदावरी का तट भ्रमण के योग्य नहीं है यहां प्रश्न यह है कि वह (डरने वाला) स्वभाव से ही भीरु है या स्वभावतः वीर है अथवा सामान्य स्वभाव वाला है। प्रथम पक्ष में तो महिमभट्ट का हेतु सव्यभिचार (व्यभिचार या अनैकान्तिक) है क्योंकि स्वामी या गुरु के आदेश आदि से भीरु स्वभाव वाले व्यक्ति का भी भय के स्थानों में भ्रमण देखा जाता है। तृतीय पक्ष (सामान्य स्वभाव) में भी यही दोष है। द्वितीय पक्ष में हेतु सिद्ध है क्योंकि कुत्ते के स्पर्श से डरने वाला भी यदि वीर है।

इसके अतिरिक्त यहां भय कारण सिंह की उपलब्धि (हेतु) सिद्ध भी है, क्योंकि गोदावरी तट पर सिंह का ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान आदि द्वारा नहीं हुआ है। अपितु एक कुलटा के वचन द्वारा हुआ है जो अप्रामाणिक है। सिंहोपलब्धि रूप हेतु का पक्ष में होना निश्चित नहीं है। इस प्रकार यह स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। इस प्रकार जब वह हेतु ही दोषपूर्ण है तो इससे साध्य सिद्धि कैसे हो सकती है। अतः यह निश्चित है कि 'भ्रम धार्मिक' इस उदाहरण के अन्तर्गत भ्रमण निषेध रूप व्यंग्यार्थ अनुमान का विषय नहीं हो सकता।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य मम्मट ने ध्वनि-विरोधी आचार्यों के मतों का निराकरण करते हुए प्रबल तर्कों के आधार पर ध्वनि सिद्धान्त की प्रस्थापना की है, इसी लिए मम्मट ध्वनि-प्रस्थापन परमाचार्य कहलाते हैं।

6

पण्डितराज जगन्नाथ की ध्वनि-दृष्टि

डा० प्रेमप्रकाश गौतम

रस के प्रति गहरी आस्था होने पर भी पण्डितराज जगन्नाथ मूलतः ध्वनिवादी आचार्य हैं। रस की अपेक्षा ध्वनि उनकी दृष्टि में निश्चय ही अधिक महत्त्वपूर्ण है, काव्य का स्वरूपाधायक तत्व है। काव्य उनके लिए शब्द है-रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द और रमणीय अर्थ ही काव्य-सर्वस्व है। रमणीय अर्थ से उनका अभिप्राय मात्र रसात्मक अर्थ से न होकर अलंकारिता और रमणीय वस्तु से भी है। अलंकार-व्यंजना और वस्तु व्यंजना भी उनके विचार में कम महत्वपूर्ण नहीं हैं[1]। रस को वे ध्वनि के ही अन्तर्गत मानते हैं रस ध्वनि के रूप में स्वीकार करते हैं। इस प्रकार रस स्वतन्त्र न होकर ध्वनि का भेद या 'अवयव' मात्र है।

"पंचभेदकध्वनि' में रसध्वनि सर्वाधिक रमणीय है काव्यात्मा है और रस रसध्वनि की आत्मा है "रसध्वनिस्त्वात्मा।" रस ध्वनि में ही अन्तर्भूत है और असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अन्तर्गत है।

प० जगन्नाथ को इस बात की बहुत चिन्ता है कि वस्त्वलंकार-प्रधान

1 प० जगन्नाथ की मान्यता है कि व्यंग्य काव्यात्मा है और अलंकार रस के उपकारी न होकर व्यंग्य के रमणीयता-प्रयोजक हैं—

'व्यंग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलंकाराः।

काव्य अकाव्य न माने जाए ।[2]

वस्तुध्वनि और अलकारध्वनि का भी महत्त्व है और उनसे भी काव्यत्व *की सिद्धि होती है। परन्तु यह पडितराज का अपाडित्यपूर्ण दुराग्रह* मात्र है। काव्य का मूलतत्व रस (भाव) ही है और रसरहित (रागात्मक स्पर्श से रहित) वस्तुध्वनि अलकार-ध्वनि या किसी भी प्रकार की शब्द-रचना चाहे कितनी ही चमत्कारपूर्ण क्यों न हो, काव्य नही है, वास्तव मे काव्य की कोटि मे नहीं आती। ध्वनिबोध की सहृदयता के अभाव में *नही हो सकता। रस रहित 'ध्वनि' जैसा कि महिमभट्ट का कहना है,* पहेली मात्र है, काव्य नहीं।

ध्वनिवादियो का कहना है कि रसप्रतीति ध्वनि रूप मे होती है, रस ध्वनि ध्वनि ही है, परन्तु ध्वनि को न मानने वाले कितने ही आचार्य हुए हैं जिनके तर्कों का ठीक उत्तर मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ भी नही दे सके हैं। ध्वनि को काव्यात्मा मानने पर वाच्यार्थ से अधिक चमत्कार पूर्ण ऐसे सभी *अर्थ* जो रसरहित हैं, *काव्य* कोटि मे आ जाएगे।

शाकर वेदान्त म विश्वास करने वाले पडितराज जगन्नाथ' चिति को निश्चय ही भावावच्छिन्न एव भग्नावरण चैतन्य को रस मानते है और अभिव्यक्ति तथा व्यञ्जना को स्वीकार करते है। 'चिति' ही रस है तो कोई भी काव्यकृति रसविमुख या रस से विच्छिन्न नही हो सकती, जगत् का कोई *भी जीव कोई भी पदार्थ रसरहित नही है। जगत् ही रसमय है।* इसलिए जगन्नाथ का यह कथन उनकी अपनी मान्यता का विरोधी है कि काव्य म वस्तुध्वनि और अलकारध्वनि मात्र ही पर्याप्त है, रससत्ता काव्य में अपरिहार्य नही है। भाव की अवच्छिन्नता को वे आवश्यक मानते हैं और उसके साथ चिति की भग्नावरणता को चैतन्य की प्रकाशिति को भी उन्होंने *अनिवार्य माना है। वही शब्द या शब्दसमूह काव्य है, जो* रमणीयार्थ का प्रतिपादक हो और साथ ही भाव के वैशिष्ट्य से चैतन्य का प्रकाशक हो।

जगन्नाथ की भावविशिष्ट चैतन्य रस है—यह बात भी उचित नही कही जा सकती। दर्शनक्षेत्र मे भले ही—'रसो वै स' को सत्य माना जाए, *परन्तु काव्यशास्त्र मे रस को ब्रह्म, आत्मा अथवा चैतन्य कहना ठीक न*

2 वस्त्वलकारप्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः।

न होगा। अभिनव जैसे गम्भीर रसचिन्तक भी चैतन्यविशिष्ट भाव को रस मानते हैं, भाव और भावास्वाद पर बल देते हैं। रस को भाव का परिपुष्ट (आनन्दात्मक) रूप और भावास्वाद कहना ही उचित है, 'चिति' या भावावच्छिन्न (भावाविशिष्ट) चैतन्य नहीं।

जगन्नाथ कठोर आग्रह वाले मुखर व्यक्तित्व के ऐसे विद्वान् थे जिन्हें आज की भाषा में 'जिद्दी' कहना अनुचित न होगा। वे मौलिक चिन्तक हैं गम्भीर विद्वान् हैं, इसमें सन्देह नहीं परन्तु अपनी बात का प्रतिष्ठापन वे जिस आग्रह और आवेग के साथ करते हैं वह चिन्तन के क्षेत्र में बहुत अच्छी प्रवृत्ति नहीं है। दूसरों की बात समझने और मानने का धैर्य उनके पास कम ही है। जितने स्पष्ट हैं, उसका खण्डन वे कुछ भी सतर्क कर सकते हैं, यह अप्पयदीक्षित के मतों का खण्डन करने द्वारा उन्होंने स्पष्ट कर दिया है।

पण्डितराज की दृष्टि में आद्य अर्थात् उत्तमोत्तम काव्य ध्वनि-प्रधान काव्य है, उसमें कोई ऐसा चमत्कारपूर्ण प्रधान अर्थ होता है जिसमें व्यंग्य न अत्यन्त गूढ़ होता है और न सर्वथा स्पष्ट। इस प्रकार का व्यंग्यार्थ (जो सर्वथा गूढ़ या स्पष्ट है) चमत्कार की सृष्टि नहीं कर सकता, चमत्कारपूर्ण नहीं हो सकता। उत्तमोत्तम काव्य में व्यंग्य में शब्द और अर्थ दोनों में प्रधानता अपेक्षित है उसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ और साधारण व्यंग्यार्थ तीनों से उत्कृष्ट होता है वाच्यादि तीनों अर्थ गौण रहते हैं। पण्डितराज का कहना है कि काव्य के इसी भेद को आचार्यों ने ध्वनि-काव्य कहा है। रसध्वनि भावध्वनि इसी के अन्तर्गत हैं।

जिस काव्य में व्यंग्य अप्रधान होने पर भी चमत्कार का कारण हो, वह पण्डितराज जगन्नाथ के मतानुसार उत्तम प्रकार का काव्य है। इस लक्षण में जगन्नाथ ने 'सत्' शब्द पर विशेष बल दिया है।[4] जहाँ वाच्यार्थ का चमत्कार व्यंग्यार्थ के चमत्कार के अधिकरण में न रहे वह व्यंग्य के चमत्कार की अपेक्षा स्पष्ट और उत्कृष्ट हो वहाँ जगन्नाथ मध्यम-काव्य

3. शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तदाद्यम्।—रसगंगाधर:—प्रथमानन।

4. यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणं तद् द्वितीयम्"—वही।

स्वीकार करते हैं।[5] जगन्नाथ का कहना है कि वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ से न्यूनाधिक सम्बन्ध रखकर ही चमत्कार उत्पन्न कर सकता है। चतुर्थ प्रकार का काव्य जिसे जगन्नाथ अधम कोटि म रखते है, वह है जिसमें वाच्यार्थ के चमत्कार मे उपस्कृत (पोषित) शाब्दिक चमत्कार प्रधान हो।[6]

स्पष्ट है कि पडितराज जगन्नाथ द्वारा उल्लिखित प्रथम काव्यभेद मम्मट आदि के उत्तम काव्य से अभिन्न है, इसी को ध्वनिवादियो ने उत्तम-काव्य कहा है। पडितराज के उत्तम और मध्यम कोटि वाले काव्य मम्मट आदि ध्वनिवादियो के मध्यम काव्य के अन्तर्गत हैं, ये दोनो ही मध्यम काव्य (गुणीभूत व्यग्य) से अभिन्न हैं। इस प्रकार मौलिकता दिखाने का प्रयत्न करने पर भी पडित जगन्नाथ यहा मौलिक स्थापना नही कर सके है। उनका काव्यभेद साधारण हेर फेर मात्र है।

निस्सन्देह पडितराज प्रतिभासम्पन्न मौलिक चिन्तक थे। ध्वनि को वे स्वीकार करते हैं परन्तु ध्वनिवादियो की अनेक मान्यताओ से मतभेद व्यक्त कर वे मौलिक स्थापनाए प्रस्तुत करते हैं। असलक्ष्यक्रमव्यग्य ध्वनि काव्य के छ भेद न मानकर वे प्रबन्धगत, वाक्यगत, पदगत, पदांशगत— ये चार ही भेद स्वीकार करते हैं। वर्ण तथा रचना उनकी दृष्टि मे रस-व्यजक न होकर गुण-व्यजक है। वे राग को रस-व्यजक मानते हैं और अन्य ध्वनि भेदो की भी सम्भावना स्वीकार करते हैं।

सलक्ष्यक्रमध्वनि के सम्बन्ध मे पडितराज का कहना है कि उसके दस भेद मानना ही उचित है चौदह नही। कविकल्पित वक्ता (पात्र) द्वारा कल्पित अर्थ वास्तव म कवि कल्पित ही है। अत कविनिबद्धपात्र प्रौढोक्ति सिद्ध के ही भेद की कल्पना अनुचित है, यह कविप्रौढोक्तिसिद्ध के ही अन्तर्गत है। इस प्रकार भेद-सख्याभिवृद्धि उचित नही। पात्र *प्रौढोक्तिसिद्धध्वनि केवलत् ध्वनित अलकार ध्वनित—ये दो भेद और* इन दोनो के वस्तु रूप अलकार-रूप दो-दो प्रकार भी पडितराज को अमान्य हैं।

लक्षणा के जहत्स्वार्था अजहत्स्वार्था भेदो मे ही ध्वनि (ध्वन्यात्मकता) सभव है। भेद भेद अलकार रूप होते हैं। जगन्नाथ इस द्युत्यध्वनि को

5. 'यत्र व्यग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तत् तृतीयम्'—वही।
6 'यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिप्रधान तदधमं चतुर्थम'—वही।

वाक्यगत और इतर प्रकारों को पदगत और वाक्यगत मानते हैं।

जगन्नाथ रसध्वनि (असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य) के चार भेद, शब्दशक्तिमूलक के दो भेद, अर्थशक्ति-मूलक के आठ भेद उभयशक्त्युद्भव का एक भेद और लक्षणामूलाध्वनि के दो भेद मानते हैं और ध्वनि के कुल सत्रह भेद स्वीकार करते हैं। इनमें शब्दशक्त्युद्भव के दो भेद, अर्थशक्त्युद्भव के आठ भेद और लक्षणामूलक दो भेद - ये बारह भेद जगन्नाथ के अनुसार पदगत और वाक्यगत के भेद से चौबीस प्रकार के होते हैं। इस प्रकार आचार्य जगन्नाथ के मत में कुल ध्वनि भेद उनतीस हैं, इक्यावन नहीं।

पात्र प्रौढोक्ति सिद्ध के सम्बन्ध में जगन्नाथ का मत 'ध्वन्यालोककार' के अनुकूल है। ध्वन्यालोक' के रचनाकार ने भी पात्र-प्रौढोक्ति सिद्ध का उल्लेख नहीं किया है। नागेश ने जगन्नाथ के एतद्विषयक मत का खण्डन करने का प्रयत्न किया है, परन्तु इसमें नागेश सफल नहीं हो सके हैं। अर्थ-शक्तिमूलक ध्वनि को प्रबन्धगत मानने के सम्बन्ध में 'ध्वन्यालोककार' भी सन्देह की स्थिति में है। जगन्नाथ अर्थशक्तिमूलक को प्रबन्धगत नहीं मानते। इसके लिए वे तर्क नहीं देते परन्तु प्रबन्ध अर्थात् सम्पूर्ण काव्य-इति से किसी एक वस्तु (बात) या अलंकार की व्यंजना नहीं होती। प्रबन्ध का अर्थ वाक्य-समूह लिया जाए तब तो ऐसा सम्भव है। परन्तु पूरे काव्य के सन्दर्भ में पण्डितराज की ही बात मान्य है। उभय-शक्तिमूलक ध्वनि के सम्बन्ध में भी जगन्नाथ का यही मत प्रतीत होता है कि वे उसे नहीं मानते। यों इस सम्बन्ध में उनका मत सुस्पष्ट नहीं है।

जहाँ तक ध्वनि-संकर का प्रश्न है उसे जगन्नाथ स्वीकार करते हैं। 'व्यंग्यभेद एव संकरत्वेऽपि' लिखकर वे संकरत्व की बात मानते हैं। परन्तु ध्वनिसंकरसंसृष्टि के भेदों की स्वीकृति के सम्बन्ध में वे मौन हैं या ग्रन्थ के अपूर्ण रह जाने से कुछ नहीं कह पाए हैं। ये भेद शास्त्र से सिद्ध किए जा सकते हैं, सिद्ध हैं परन्तु इन भेदों में कोई चमत्कार-वैशिष्ट्य दृष्टिगत नहीं होता। इन सब भेदों के उदाहरण भी प्राप्त नहीं हैं।

'अप्राकरणिक अर्थ' का बोध अभिधा से नहीं हो सकता, व्यंजना से होता है, जगन्नाथ पुराने आचार्यों की यह बात नहीं मानते। उन्होंने सिद्ध किया है कि अभिधा से अप्राकरणिक अर्थ का भी बोध होता है। अनेका-र्थक अर्थ को सुनने पर उस शब्द के बाद आने वाले अर्थ प्रकरणादि से तात्पर्य होने पर विस्मृत होकर, उस शब्द का अभिधा से प्राकरणिक अर्थ

ही याद रह जाता है और अप्राकरणिक अर्थ का बोध व्यजना से होता है, इस मत का खण्डन जगन्नाथ इस आधार पर करते हैं कि सस्कार एव उद्‌घोधक दोनो के रहने पर प्रकरणादि से एक ही अर्थ नही, अन्य अर्थ भी याद आते हैं। वक्ता के तात्पर्य निर्णय को अभिधा सम्बन्धी अन्वय-बोध मे कारण मानना चाहिए इस दूसरे मत का खण्डन करते हुए जगन्नाथ कहते हैं कि अभिधा या व्यजना किसी भी प्रकार से होने वाले अर्थ-बोध मे वक्तृतात्पर्य निर्णय को हेतु मानना व्यर्थ है, तात्पर्य-निर्णय का उपयोग बोद्धा की प्रवृत्ति मे है अनेक अर्थ समझ कर भी बोद्धा वक्तृ-तात्पर्य निर्णीत अर्थ में प्रवृत्त होता है।

7

ध्वनि सिद्धान्त : स्वरूप तथा भेद-निरूपण

डा० वागीशदत्त पाण्डेय

भारतीय काव्यशास्त्र में ध्वनि सिद्धान्त बड़ा ही उपयोगी सिद्ध हुआ है। काव्य परिधि में शब्द की छोटी इकाई से लेकर प्रबन्ध तक अपने व्यापक प्रसार से तथा विविध काव्य सिद्धान्तों के समन्वय से इस सिद्धान्त की महत्ता सर्वमान्य हुई है। ध्वनि सिद्धान्त की प्राण-प्रतिष्ठा आनन्दवर्धन द्वारा सम्पन्न की गई तथा इस सिद्धान्त का प्रचार एवं प्रसार ध्वन्यालोक के टीकाकार अभिनवगुप्त द्वारा किया गया। अभिनवगुप्त की प्रतिभा और उनकी तर्क बुद्धि द्वारा विवेचित होकर आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिष्ठापित यह सिद्धान्त शीघ्र ही लोकप्रिय हो गया।

ध्वन्यालोक के प्रारम्भ में आनन्दवर्द्धन ने यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि ध्वनि के विषय में वैयाकरणों द्वारा पहले ही काफी प्रकाश डाला जा चुका है।[1] वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त के विवेचन में ध्वनि सिद्धान्त के मूल तन्तुओं की स्पष्ट उपलब्धि हो जाती है। आनन्दवर्धन की मौलिकता इस बात में है कि उन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त के समालोचकों की भ्रान्त मान्यताओं को खण्डित कर ध्वनि-सिद्धान्त की अनिवार्यता मण्डित की तथा अपने पूर्ववर्ती समस्त रस अलंकारादि सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का काव्य के सदर्भ में

1. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः । ध्वन्या० १० उ०

सम्यक् परीक्षण कर अपने सिद्धान्त की श्रेष्ठता प्रतिपादित की।[2]

वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त के अन्तर्गत ध्वनि के मूल तत्वों को ध्वनि-कार न पाया। ध्वनि की व्यापकता की भांति वैयाकरणों का स्फोटवाद भी अति व्यापक एवं महत्वपूर्ण है। लोचन टीकाकार अभिनवगुप्त ने इस प्रसग को स्पष्ट करते हुए वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त के साथ ध्वनि-सिद्धान्त का पूर्ण सामजस्य स्थापित किया हैं। वैयाकरण शब्द को नित्य मानते है और शब्द की इसी नित्यता को सिद्धि के लिए उन्होंने स्फोट के सिद्धान्त को अपनाया है। स्फोट शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है "स्फुटति अर्थं यस्मात् स स्फोट" अर्थात् जिससे अर्थ स्फुटित हो उसे स्फोट कहते हैं। वर्ण, पद, वाक्य आदि भेद से स्फोट के अनेक भेद हैं। तर्क-वादियों और वैयाकरणों के अनुसार वक्ता द्वारा एक पद या वाक्य के उच्चारण को श्रोता पूर्व-पूर्व वर्ण के लुप्त होने के अनन्तर मात्र अन्त्य वर्ण से ही समस्त पद या वाक्य का अवधारण करता है। उदाहरणार्थ गौ शब्द को लीजिए जिसमें ग, औ और विसर्ग ये तीन वर्ण है। श्रोता तक ये तीनों वर्ण एक साथ नहीं पहुँचते क्योंकि तीनो की स्थिति पृथक् पृथक् है। एक वर्ण के बाद जब दूसरा वर्ण वह ग्रहण करता है तब पूर्व वर्ण लुप्त हो जाता है और इस प्रकार अन्त्य वर्ण पर पहुँच कर ही वह स्फोट द्वारा सस्कार रूप मे वर्तमान तिरोभूत वर्णों को भी ग्रहण कर अर्थ बोध कराता है।[3] इस अर्थ बोध की प्रक्रिया मे 'स्फोट' का योग अनिवार्य है, क्योंकि व्यक्त वर्ण ध्वनिया जो क्षणमात्र म ही लुप्त हो जाती हैं अर्थ बोध नही करा सकती। इसके लिए मानस-पट म नित्य वर्तमान स्फोट का सहारा लेना ही पडता है।

शब्द के दो रूप होते हैं—एक व्यक्त या विकृत रूप और दूसरा अव्यक्त या प्राकृत रूप। व्यक्त का सम्बन्ध वैखरी और अव्यक्त का सम्बन्ध मध्यमा वाणी से है। पहला स्थूल का ऐन्द्रिय रूप है और दूसरा सूक्ष्म का मानस रूप है। शब्द का मानस रूप ही स्फोट है जो वर्णों के सघात से उद्बुद्ध होता है। वाक्यपदीय में भर्तृहरि ने 'शब्दज शब्द' को स्फोट की

2 वि० दे० हिन्दी ध्वन्यालोक की भूमिका डा० नगेन्द्र।

3 वि० दे० महाभाष्य—शब्दानुशासन।

ध्वनि कहा है ।"[4] इस सिद्धान्त के अनुसार पूर्व-पूर्व वर्ण के अनुभवजनित संस्कार के साथ अन्त्यवर्ण के श्रवण के अनन्तर तिरोभूत वर्णों को भी ग्रहण करने वाली एक मानसिक पद प्रतीति उद्‌बुद्ध होती है और यही 'पद स्फोट' है । इस प्रकार श्रोता व्यक्त रूप मे श्रोत्रग्राह्य शब्द या पदो से अर्थ अवधारण नहीं करता उसे अर्थ अवधारण मे अव्यक्त पद स्फोट [illegible] मिलती है । इसी प्रक्रिया से श्रोता को वाक्य स्फोट द्वारा [illegible] की भी प्रतीति होती है । हां, स्फोट की अभिव्यक्ति व्यक्त [illegible] ध्वनि या शब्द पर ही आधारित है । आलङ्कारिकों के यहां [illegible] स्फोटवादियों का व्यक्त श्रोत्रग्राह्य शब्द है और पदानाद के अन्तर्गत अनुरणन रूप ध्वनि वैयाकरणों का स्फोटवाद है ।

ध्वनि के स्वरूप विश्लेषण के लिए ध्वनिकार ने [illegible] की निम्न परिभाषा दी है—

"यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥[5]

अर्थात् जहां शब्द और अर्थ उस प्रतीयमान अर्थ के लिए (जो कवि वाणी का अभिप्रेत है) अपना गौण रूप ग्रहण कर लेते हैं, उस काव्य विशेष को विद्वानों ने ध्वनि की संज्ञा दी है ।

इस कारिका मे शब्द और अर्थ की व्याख्या करते हुए स्वयं ध्वनिकार ने—'यत्रार्थो वाच्यविशेषो वाचकविशेष शब्दो वा"—कहकर उनका अभिधावृत्ति से सम्बन्धित वाच्य और वाचक अर्थ ही ग्रहण किया है । इसी प्रकार 'तमर्थम्' की व्याख्या मे ध्वनिकार ने प्रतीयमान अर्थ को ग्रहण किया है । यह प्रतीयमान अर्थ जो व्यंजना शक्ति द्वारा प्रतिपाद्य है और जिसकी उपलब्धि महाकवियों की वाणी मे ही सम्भव है, नायिका के अवयवों से भिन्न लावण्य की भांति अनुभूत किया जा सकता है ।[6] उपर्युक्त कारिका मे ध्वनिकार ने व्यंजना-उद्‌भूत काव्य विशेष को ध्वनि कहा है । यहां काव्यविशेष बड़ा ही व्यापक शब्द है, क्योंकि ध्वनि की सत्ता वस्तु,

4. "स स्फोटः शब्दजः शब्दो ध्वनिरित्युच्यते बुधैः ।" वाक्यपदीय
5. दे॰ ध्वन्यालोक प्र॰ उ॰ 13 ।
6. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु । ध्वन्या॰ प्र॰ उ॰ 4 ।

अलकार, रस रूप मे पदांश से लेकर प्रबन्ध तक संभव हो सकती है। इसी बात को ध्यान मे रखते हुए इस स्थल पर टीकाकार अभिनवगुप्त ने काव्य-विशेष का अर्थ बडे व्यापक रूप मे ग्रहण किया है और उसी के आधार पर उन्होने काव्य मात्र को ही ध्वनि नही, अपितु शब्द अर्थ तथा शब्दार्थ के व्यापार को भी ध्वनि बताया है। टीकाकार द्वारा ध्वनि की व्यापकता के कारण ही ध्वनि शब्द की निम्न व्यु पत्तियाँ उपगत हुई हैं—

१ ध्वनति य स ध्वनि, *२ ध्वनति ध्वनयति वा य स ध्वनि*, *३ ध्वन्यते इति स ध्वनि*, *४ ध्वन्यते अनेन स ध्वनि*, तथा *५ ध्वन्यतेऽस्मिन्निति स ध्वनि* ।

इस प्रकार विभिन्न व्युत्पत्तियो का आश्रय लेकर आलकारिको ने १. व्यजक शब्द के रूप मे, २ व्यजक अर्थ के रूप मे, ३ व्यङ्ग्य अर्थ के रूप मे, ४ व्यजना व्यापार के रूप मे तथा ५ व्यङ्ग्य प्रधान काव्य के रूप मे ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है। ध्वनि के सभी रूपो मे प्रतीयमान अर्थ की उपगति आवश्यक है, क्योकि ध्वनि काव्य के अन्तर्गत वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ की ही प्रधानता होती है। इसी भाव को ध्यान मे रखकर आचार्य मम्मट ने ध्वनि की निम्न परिभाषा प्रस्तुत की है—

"इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्यात् ध्वनिर्बुधै कथित "।[7]

अर्थात् वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्य प्रधान काव्य ही उत्तम कोटि का काव्य है और इसे ही वैयाकरणो ने ध्वनि काव्य की सज्ञा दी है। मम्मट ने मध्यम और अधम रूप मे काव्य के दो भेद और प्रस्तुत किये हैं। मध्यम काव्य मे वाच्यार्थ प्रधान और व्यङ्ग्यार्थ गौण रहता है और अधम या अवर काव्य व्यङ्ग्यार्थ से शून्य गुणालकार-युक्त शब्द रचना मात्र है। स्पष्ट है मम्मट ने काव्य के भेदो के वर्णन मे व्यजना आदि को केन्द्रीभूत बनाया है और यही व्यजना शक्ति ध्वनि का भी आधार है।

आचार्य मम्मट के अनुकरण पर आचार्य विश्वनाथ ने ध्वनि के लक्षण मे कोई नवीन बात न कहकर उन्ही शब्दो को दुहरा दिया है। विश्वनाथ के शब्दो मे—

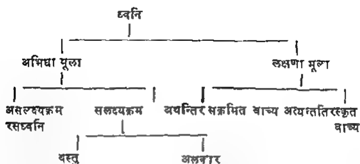
"वाच्यातिशयिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम् "।[8] यह ध्वनि का

7. दे० मम्मट का. प्र. प्र. उ.।
8 दे० विश्व० सा० द० प्र० परि०।

लक्षण है। यहाँ 'वाच्यातिशयिनि व्यङ्ग्ये' का अर्थ वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्य का अधिक रमणीय होना है। इस स्थल पर साहित्यदर्पणकार ने ध्वनिकार के मत की एक भ्रामक मनीषा की है। उनका कथन है कि यदि वस्तु अलंकार रस रूप ध्वनि को काव्य की आत्मा माना गया तो इसमें प्रहेलिकादि काव्यों में उत्तम की अति व्याप्ति होगी, क्योंकि प्रहेलिकादि काव्यों में भी तो अभिधेय की अपेक्षा अन्य वस्तु की ही अभिव्यक्ति होती है। अतः इन्हें भी उत्तम काटि का काव्य माना जाएगा जो वस्तुतः स्वीकार्य नहीं। दूसरे, यदि ध्वनिकार रस ध्वनि को ही काव्य की आत्मा बनाते हैं, तो यह हमें (विश्वनाथ को) स्वीकार्य है। यद्यपि इस सिद्धान्त के ग्रहण में भी कहीं-कहीं आलोचना का अवसर आयेगा लेकिन उसका परिहार हम प्रकारान्तर से कर सकते हैं। सिद्धान्त रूप में आचार्य विश्वनाथ रसवादीय हैं, अतः उन्होंने वस्त्वलंकार की अपेक्षा रसध्वनि को अधिक महत्वपूर्ण माना है, पर जैसा कि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि ध्वनियों की व्यंजना के अवसर पर वस्त्वलंकार ध्वनियों को भी हम अनुपादेय नहीं कर सकते। साथ ही काव्य में रस की महत्ता को भी हम अस्वीकार नहीं कर सकते।[9]

ध्वनि परंपरा में ध्वनि के मूल पाँच भेद हैं। दो भेद लक्षणावृत्ति पर आधारित हैं और तीन अभिधा पर आश्रित हैं। आचार्य मम्मट ने लक्षणामूलक ध्वनि को अविवक्षित वाच्य और अभिधा मूलक ध्वनि को विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि कहा है। लक्षणा-मूला ध्वनि में वाच्यार्थ की विवक्षा नहीं होती, यद्यपि वाच्यार्थ का ग्रहण है पर बाधित रूप में। इसके विपरीत अभिधा-मूलाध्वनि में वाच्य के विवक्षित होने पर भी उसकी उपयोगिता अन्य प्रतीयमान वस्तु आदि के निमित्त होती है। लक्षणा-मूलाध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य और अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य दो भेद हैं तथा अभिधा-मूलाध्वनि असंलक्ष्यक्रम तथा संलक्ष्यक्रम रूप से दो भागों में विभक्त है। असंलक्ष्यक्रम ध्वनि रसध्वनि के रूप में तथा संलक्ष्यक्रम ध्वनि वस्तु और अलंकार के रूप में पुनः दो भागों में विभक्त हो जाती है। संक्षेप में इन भेदों को हम निम्न तालिका में प्रस्तुत करते हैं—

9. विस्तार दे० सा० द० प्र० परि०।



ध्वनिवादी परपरा मे सलक्ष्यक्रम के अन्तर्गत वस्तु और अलकारमूलक ध्वनियों को ही गिना गया है। लक्षणा मूलक ध्वनियाँ भी सलक्ष्यक्रम है, ऐसा स्पष्ट उल्लेख कही नही मिलता। किन्तु जहाँ तक लक्षणामूलक ध्वनियो मे व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति का सम्बन्ध है वहाँ शब्द और अर्थ मे अधिक मन्थरता के कारण क्रम सुलक्ष्य होता है। इस सदर्भ मे कुछ विद्वानो ने रस-गगाधर के द्वितीय आनन मे सलक्ष्यक्रम ध्वनियो के विवेचन के अवसर पर लक्षणा मूलक ध्वनियो के विवेचन से यह अनुमान लगाया है कि पडितराज लक्षणामूलक ध्वनियो को भी सलक्ष्यक्रम के अन्तर्गत ही स्वीकार करते हैं। यद्यपि पडितराज ने लक्षणा मूलक ध्वनिया भी सलक्ष्यक्रम के अन्तर्गत है ऐसा स्पष्ट कही नही कहा।[10]

ध्वनि के इन्ही पाच मूल भेदो को आचार्य मम्मट ने ध्वनि के ५१ शुद्ध भेदो मे विभक्त किया है। हम इन उपभेदो को निम्न रूप मे प्रदर्शित कर सकते हैं—

मूलभेद

1 अभिधा मूलक असलक्ष्यक्रम रसादिध्वनि १ भेद
2 अभिधा मूलक सलक्ष्यक्रम वस्तु एव अलकार ध्वनि २ भेद
3 लक्षणा मूलक सलक्ष्यक्रम अर्थान्तरसक्रमित वाच्य अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य २ भेद

10 विस्तार दे० प्रमस्वरूप—'रसगगाधर का शास्त्रीय अध्ययन-ध्वनि के भेद 5।

उपभेद

1 रसादिध्वनि (असलक्ष्यक्रम) १ पदगत २ वाक्यगत ३ वर्णगत ४ पदांशगत ५ प्रबन्धगत तथा ६ रचनागत भेद से ६ भेद

2 वस्तु-अलंकारध्वनि (सलक्ष्यक्रम) शब्द-शक्ति-मूलक पदगत तथा वाक्यगत भेद से ४ भेद

वस्तु तथा अलंकार (सलक्ष्यक्रम) अर्थ-शक्ति-मूलक कवि प्रौढोक्ति कविनिबद्ध वक्तृ प्रौढोक्ति तथा स्वतःसंभवी रूप से १२ भेद। इनके पुनः पदगत वाक्यगत तथा प्रबन्धगत भेद से ३६ भेद। अभिधा मूलक संलक्ष्यक्रम के शब्दार्थ-शक्ति-मूलक केवल वाक्यगत भेद से १ भेद।

[इस प्रकार अभिधा-मूलक संलक्ष्यक्रम के शब्द शक्ति से संबंधित ४ भेद अर्थ शक्ति से संबंधित ३६ भेद तथा उभयशक्ति से संबंधित १ भेद के योग से कुल ४१ भेद हुए]

३ लक्षणा-मूलक संलक्ष्यक्रम ध्वनि के अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य तथा अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य के पदगत तथा वाक्यगत भेद से ४ भेद।

इस प्रकार आचार्य मम्मट ने ध्वनि के ५१ शुद्ध भेद गिनाए हैं। इन्हीं का अनुकरण आचार्य विश्वनाथ ने भी किया है। मम्मट के अनुसार यदि संकर-संसृष्टि का आधार बनाकर भेदों की गणना की जाय तो यह संख्या १०४५५ होगा। इसके विपरीत ध्वन्यालोक के टीकाकार अभिनवगुप्त ने ध्वनि के विशुद्ध ३५ उपभेदों को ही माना है। मम्मट की तुलना में अभिनवगुप्त ने जिन १६ उपभेदों को नहीं गिनाया वे इस प्रकार हैं

1 लोचन टीकाकार ने असंलक्ष्यक्रम रसध्वनि का पदांश भेद नहीं माना।

2 लोचनकार ने अभिधामूलक संलक्ष्यक्रमध्वनि के शब्दशक्तिगत पदगत और वाक्यगत दो भेद ही माने हैं। उन्होंने वस्त्वलंकार रूप अन्य दो भेद नहीं माने।

3 लोचनकार अभिधामूलक संलक्ष्यक्रम के अर्थशक्ति संबंधित प्रबन्धगत १२ भेद भी स्वीकार नहीं करते।

4 लोचनकार अभिधामूलक संलक्ष्यक्रम के उभयशक्ति संबंधित वाक्य

भेद की भी पृथक से सत्ता नही मानते और इस प्रकार मम्मट से इनकी सख्या काफी कम हो जाती है।

भेद शृङ्खला के प्रस्तुत प्रकरण मे हम यहाँ एक चर्चा करना और आवश्यक समझते है। ध्वनि परपरा मे रसादिध्वनियो को असलक्ष्यक्रम के अन्तर्गत माना गया हैं, किन्तु पडितराज जगन्नाथ की मान्यता इस विषय मे भिन्न है। पडितराज रसादिध्वनियो को असलक्ष्यक्रम के साथ सलक्ष्य-क्रम भी मानते हैं। अपने कथन की पुष्टि के लिए पडितराज का तर्क है कि जहाँ प्रकरणादि स्पष्ट हैं, वहाँ सहृदय को विभावादि की प्रतीति शीघ्र हो जाती है और सहृदय स्वत रसमग्न हो जाते हैं। ऐसे स्थलो पर अनुभूति की तीव्रता के कारण क्रम परिलक्षित नहीं होता, लेकिन जहा प्रकरण उलझा हुआ है अथवा प्रमाता को विभावादिकों की प्रतीति म दूरारूढ कल्पना करनी पडती है, एसे स्थलो पर रसादिध्वनिया सलक्ष्यक्रम वाली ही होंगी।

इस विषय पर अधिक चर्चा न कर निष्कर्ष का भार हम केवल भावको पर ही छोडते हैं क्योकि तर्क की तुला से अनुभूति की रमणीयता का महत्व कही अधिक होता है। विस्तारभय से ध्वनि के भेदा के स्पष्टीकरण के लिए हमने उदाहरणो को भी प्रस्तुत नही किया। इसके लिए प० राम-दहिन मिश्र के काव्य-दर्पण से सहायता ली जा सकती है।

9

ध्वनि सिद्धान्त के स्रोत

डा० अनिरुद्ध जोशी

आचार्य आनन्दवर्द्धन का ध्वनि सिद्धांत अपने युग का एक महान् क्रान्तिकारी सिद्धान्त था। अलंकार शास्त्र के उपलब्ध साहित्य के आधार पर इसकी मौलिकता के बारे में कोई सन्देहावकाश नहीं है। परन्तु स्वयं आनन्दवर्द्धन इसे कोई नया सिद्धान्त नहीं कहते। उनका कथन है कि यह सिद्धान्त परम्परा से प्रकट है। पहली कारिका की वृत्ति में ही वे कहते हैं, "परम्परया[1] य समाम्नातपूर्वं सम्यक् आसमन्तात्प्रकटित"। लोचनकार अभिनवगुप्त इन्हीं शब्दों की और अधिक व्याख्या करते हुए कहते हैं "अविच्छिन्नेन[2] प्रवाहेण तैरेतदुक्तं विनाऽपि विशिष्ट पुस्तकेषु विनिवेशनादित्यभिप्राय"। इससे यह तथ्य स्पष्ट होता है कि आनन्दवर्द्धन से पूर्व भी ध्वनि सिद्धान्त के विषय में निरन्तर विचार प्रवाह प्रचलित था। लेकिन क्या यह चिन्तन अलंकार के क्षेत्र में था अथवा अन्य किसी क्षेत्र में यह अज्ञात है। जिस पूर्ण विकसित रूप में आनन्दवर्द्धन आज सिद्धान्त का प्रस्तुतीकरण करते हैं, उसमें भी इस सिद्धान्त के विकास से पहले कोई दीर्घपरम्परा रही होगी ऐसा अनुमान लग सकता है। चिन्तन की कोई

1. वृत्ति प्रथमकारिका ध्वन्यालोक पृ० 10।
2. ध्वन्यालोक पृ० 11।

भी धारा अकस्मात् इतनी प्रबल, सशक्त एव प्रभावशाली नही बनती। परन्तु आनन्दवर्द्धन के पूर्व ध्वनि चिन्तन पुस्तक रूप मे सर्वथा अनुपलब्ध होने के कारण इसकी मौखिक परम्परा का ही अनुमान किया जा सकता है।

प्रमाणो की इस प्रकार की अनुपलब्धि ही ध्वनि सिद्धान्त के स्रोतो के विषय मे एक प्रश्न चिह्न लिए खडी है। यह विषय और भी जटिल हो जाता यदि आनन्दवर्द्धन ने इस सम्बन्ध मे ध्वन्यालोक मे सकेत भी न दिया होता। उनका कथन है कि किसी भी पूर्ववर्ती काव्यलक्षणकार ने इस सिद्धान्त का लक्षण नही किया क्योकि यह उनकी बुद्धि के सीमित क्षेत्र मे नही आ सका परन्तु लक्ष्य ग्रन्थों मे यही सार तत्त्व एव सौन्दर्य का एक मात्र आधार है, "तस्य हि ध्वने स्वरूप सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूत-मतिरमणीयमणीयसीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिना बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्......लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्ध व्यवहार"[3] लक्षण ग्रन्थो मे इस सिद्धान्त के अभाव की ओर एक बार और सकेत ध्वन्यालोक की 13 वी कारिका की वृत्ति मे भी करते हैं "यतोलक्षणकृतामेव[4] स केवल न प्रसिद्ध लक्ष्ये तु परीक्ष्यमाणे स एव सहृदयहृदयाल्हादकारी तत्त्वम्।" इसी वृत्ति मे कुछ और आगे जाकर आनन्दवर्द्धन अपने सिद्धान्त को वैयाकरणो से प्रेरित भी मानते हैं, "प्रथमे[5] हि विद्वान्सो वैयाकरणा व्याकरणमूलत्वात्सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभि काव्यतत्त्वार्थदर्शिभि ......व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्त"। दूसरे शब्दो मे यह स्पष्ट है कि आनन्दवर्द्धन अपने इस सिद्धान्त के लिए वैयाकरणो की ऋणिता को स्वीकार करते हैं।

जहा तक अलकार-शास्त्रसम्बन्धी आचार्यों एव ग्रन्थो का प्रश्न है आनन्दवर्द्धन से पूर्व पाँच छ नाम उपलब्ध होते हैं, भरत, भामह, वामन, उद्भट, रुद्रट इत्यादि। इनमे सर्वाधिक प्राचीन भरतमुनि और उनका नाट्य-शास्त्र है। इस ग्रन्थ का अधिकाश भाग भी नाट्यसिद्धान्तो से ही सम्बद्ध है। नाट्यशास्त्र में रस सूत्र का स्थल ही ऐसा स्थल है जहा इस सिद्धान्त का कोई संकेत सम्भव हो सकता था, परन्तु रस सूत्र सम्बन्धी पूरे महावाक्य मे

3. ध्वन्यालोक पृ॰ 35-36
4. ,, पृ॰ 106-7
5. ,, पृ॰ 133

ध्वनि सिद्धान्त का संकेत देने वाला कोई शब्द नहीं। "तत्र[6] रसान् एव आदौ व्याख्यास्याम नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते······स्थायीभावान् आस्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति।" लेकिन भरत के ही नाट्यशास्त्र के कुछ अन्य स्थलों से ध्वनि सिद्धान्त के संकेत निकालने के दुराग्रह पूर्ण प्रयत्न अवश्य किए जा सकते हैं। जैसे भावों का वर्णन करते हुए उनके द्वारा प्रयुक्त अभिव्यक्ति शब्द में इसका मूल ढूंढा जा सकता है। "एवमेते[7] रसाभिव्यक्ति हेतव एकोनपञ्चाशद् भावाः प्रत्यवगन्तव्याः"। यहां अभिव्यक्ति शब्द का ध्वनि के अर्थ में प्रयुक्त माना जा सकता है। परन्तु इसकी पुष्टि इस सम्बन्ध में इसी ग्रन्थ में अन्य स्थलों पर प्रयुक्त शब्दों से नहीं होती। भावों एवं रसाभिव्यक्ति के सम्बन्ध में भरत द्वारा अनेक स्थलों पर समुत्पद्यते शब्द का भी प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ

(i) सम्भोगोविप्रलम्भश्च······आदिभिर्विभावैरुत्पद्यते।[8]

(ii) अथ हास्यो नाम ......स च ··आदिभिर् विभावैरुत्पद्यते[9]।

(iii) अथ करुणोनाम······स च···आदिभिर्विभावैः समुपजायते।[10]

इससे यह निष्कर्ष निकलना सम्भव नहीं है कि भरत का अभिव्यक्ति अथवा ध्वनि के सम्बन्ध में कोई निश्चित मत नहीं था इसीलिए वे उत्पद्यते जायते, अभिव्यज्यते शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची रूप में करते हैं। लेकिन वाचिक अभिनय के प्रसंग में ध्वनि का संकेत दे सकने वाली भरतमुनि की एक महत्वपूर्ण उक्ति है कि नाम[11], आख्यात, निपात, उपसर्ग, तद्धित, समास सन्धि एवं विभक्ति से वाचिक अभिनय सम्भव है। इससे यह ज्ञात होता है कि उन्हें अभिधेय और लक्ष्यार्थ से भिन्न किसी अर्थ के अस्तित्व का ज्ञान अवश्य था। भरत इसे कोई संज्ञा नहीं देते। इसी विषय में कोई और विवरण भी अनुपलब्ध है। परन्तु यह पर्याप्त सम्भव है कि आनन्दवर्द्धन ने वाचिक अभिनय के इसी प्रसंग से अपने सिद्धान्त की

6 नाट्यशास्त्र—6-34
7 „ भाग 1—पृ० 349
8 नाट्यशास्त्र भाग 1 पृ० 304
9 „ „ „ 314
10 „ „ „ 318
11. „ „ „ 14-4

प्रेरणा ली हो। अभिनवगुप्त भी इसका समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं "एतद् एव[12] उपजीव्य आनन्दवर्द्धनाचार्येण उक्तम् 'सुप्तिङ्वचन इत्यादि"।

अभिनव और रुय्यक के कुछ एक उल्लेखों से पता चलता है कि आनन्दवर्द्धन से पूर्व उद्भट, वामन और रुद्रट को ध्वनि सिद्धान्त का ज्ञान था। अभिनव द्वारा उद्भट के भामहविवरण के एक स्थल से उद्धरण देकर तथा *वक्रोक्ति लक्षण* का उल्लेख करके इस बात की पुष्टि की गई है कि इन पूर्वाचार्यों ने ध्वनि का स्पर्श तो किया लेकिन इसकी गहराई तक नहीं पहुंच पाए। ध्वन्यालोक की लोचन टीका में वे इन शब्दों के माध्यम से इस तथ्य का प्रस्तुतीकरण करते हुए दिखाई देते हैं। "भामहेनोक्तं शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्थां इति अभिधानस्य शब्दाद् भेद व्याख्यातु भट्टोद्भटोबभाषे[13]—'शब्दानामभिधानमभिधा व्यापारो मुख्योगुणवृत्तिश्च' इति वामनोऽपि 'सादृश्यलक्षणावक्रोक्ति'""तैस्तावद् ध्वनिदिगुन्मीलिता, यथा लिखितपाठकैस्तु स्वरूपविवेक कर्तुमशक्नुवद्भिस्तत् स्वरूपविवेको न कृत प्रत्युतोपालभ्यते, अभग्ननारिकेलवद् यथा श्रुतवद्ग्रन्थोद्ग्रहणमात्रेणेति"। *लोचनकार की यह व्याख्या वास्तव में ग्रन्थकार के ही इन शब्दों की विस्तृत* व्याख्या एवं पुष्टि है, "काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चित्प्रकार प्रकाशित, तथापि अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहार दर्शयता काव्यव्यवहारो मनाक् स्पृष्टोऽपि न लक्षित"[14]। इससे यह स्पष्ट है कि ये पूर्ववर्ती आलंकारिक यद्यपि व्यंग्यार्थ से पूर्णरूपेण परिचित नहीं थे तो भी इसका उन्हें थोड़ा ज्ञान अवश्य था।

रुय्यक भी इस मत का समर्थन करते हैं कि भामह उद्भट और वामन आदि आलंकारिक प्रतीयमान से परिचित होते हुए भी उसे अलंकारों में ही गतार्थ समझते हैं "इह हि तावद् भामहोद्भट[15] प्रभृतयश्चिरन्तनालंकारकारा ......तदेवम् अलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्"। कई एक अन्य उद्धरणों से भी यह स्पष्ट है कि वामन अभिधा के अतिरिक्त लक्षणा से ही परिचित थे। वे लाक्षणिक अर्थ को भी अभिधेय की भाँति ही अलंकार्य

12. अभिनव भारती भाग-1 पृ॰ 229
13. ध्वन्यालोक लोचन पृ॰ 32-33
14. ,, पृ॰ 31-32
15. अलंकार सर्वस्व पृ॰ 3-5

मानते हैं। वामन के मत में अर्थ दो प्रकार का है "अर्थो व्यक्तः सूक्ष्मश्च व्यक्त[16] स्फुटः सूक्ष्मो भाव्यो वासनीयश्च, एकाग्रताप्रकर्षगम्यो वासनीय इति" वासनीय अर्थ यद्यपि व्यंग्य के अत्यधिक निकट है तो भी वामन इसे लक्षण से बाहर नहीं मानते। दण्डी भी हेत्वलंकार के कुछ भेदों को गुण शक्ति पर आधारित मानकर भी इस गुण वृत्ति की व्याख्या नहीं करते। इससे यह सिद्ध है कि ये पूर्वाचार्य प्रतीयमान को अलंकारों में ही गतार्थ समझते थे। रुय्यक इसी की पुष्टि करते हैं। "चिरन्तनालंकारकार प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारकत्वालंकार पक्षनिक्षिप्तं मन्यन्ते[17]।

अतः यह स्पष्ट है कि आनन्दवर्द्धन से पूर्ववर्ती आलंकारिकों को काव्य में अनभ्यागम्य अर्थ से परिचय अवश्य था परन्तु उन्हें ध्वनि दर्शन का कोई पता नहीं था। अतः उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सिवाय नाट्यशास्त्र के वाचिक अभिनय के प्रसंग से कोई भी पूर्ववर्ती अलंकार ग्रन्थ आनन्दवर्द्धन की प्रेरणा का स्रोत नहीं हो सकता। नाट्यशास्त्र का यह प्रसंग भी अत्यन्त संक्षिप्त एवं अस्पष्ट है।

अर्थ की अभिव्यक्ति का विचार संस्कृत साहित्य में प्राचीन है। दर्शन के क्षेत्र में यह विचार प्राचीनतर माना जा सकता है। सांख्य[18] दर्शन में इस विचार का प्रतिपादन किया गया है कि कार्य कारण में निहित रहता है और अस्तित्व में आने का अर्थ केवल अभिव्यक्ति मात्र है। परन्तु इतना मात्र हमारे व्यापक प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ है।

ऊपर इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि ग्रन्थारम्भ में ही ध्वनि सिद्धान्त को आनन्द वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त से लिया मानते [illegible]। एक अन्य स्थल पर भी ध्वन्यालोक में इसी तथ्य से की पुष्टि दिखाई देती है "परिनिश्चित[19] निरपभ्रंशशब्दब्रह्मणां विपश्चितां मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽयं ध्वनिव्यवहार इति। अतः व्याकरण के ग्रन्थों में ही आनन्द के सिद्धान्त का मूल ढूंढना इस व्यापक जिज्ञासा को शांत करने में समर्थ हो सकता है। आनन्दवर्द्धन के पूर्ववर्ती केवल कुछ ही व्याकरण-विषयक

16. काव्यालंकार सूत्र III, 2—9
17. अलंकार सर्वस्व पृ०-3
18. सांख्यकारिका, कारिका—9
19. ध्वन्यालोक पृ० 433

ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनमे भी मुख्य चार ही हैं। यास्क का निरुक्त, पाणिनि की अष्टाध्यायी पतजलि का महाभाष्य तथा भर्तृहरि का वाक्यपदीय इनमे से पहले तीन ग्रन्थो मे ध्वनि अथवा स्फोट का कोई स्पष्ट अथवा विस्तृत सकेत उपलब्ध नही। केवल भर्तृहरि वाक्यपदीय मे स्फोट सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या करते हैं। परम्परा स्फोट सिद्धान्त को आचार्य स्फोटायन की ही देन मानती है। परन्तु स्फोटायन के केवल उद्धरण मात्र मिलते है उनकी भी कोई कृति उपलब्ध नही है। अत स्फोट सिद्धान्त का जो स्वरूप भर्तृहरि प्रस्तुत करते है उसी आधार पर हमे इसमे ही इस ध्वनि सिद्धान्त का मूल ढ ढना होगा। वाक्यपदीय मे सभी वैयाकरणो के दार्शनिक विचारो को न केवल सगृहीत ही किया गया है अपितु उन्हे नियमित रूप भी दिया गया है। वाक्यपदीय के अध्ययन से ध्वनि सिद्धान्त और इस ग्रथ की अनेक समानताए देखी जा सकती हैं।

आनन्दवर्द्धन ने इस मत का प्रतिपादन किया है कि शब्दो मे अभिधा और लक्षणा से भिन्न एक ऐसी शक्ति है जिसमे रस वस्तु और अलकार की अभिव्यक्ति होती है। यह सिद्धान्त वाक्यपदीय के इस कथन पर आधारित लगता है कि शब्द की अभिव्यक्ति होती है, जिसे पारिभाषिक शब्दो में 'स्फोट' कहा जाता है। इस ग्रथ के ही अनुसार 'स्फोट' ब्रह्म की तरह नित्य है। यह स्फोट स्वय ध्वनि होने के कारण अन्य ध्वनियो का कारण बनता है। जैसे अरणिस्थित ज्वाला अन्य ज्वालाओं को प्रज्वलित करती है वैसे ही शब्द कार्य करता है। स्फोट शुद्ध वायु की तरह समस्त पदार्थों मे व्याप्त होता है और स्वय ही अपनी शक्ति द्वारा अभिव्यक्त।

१ *अरणिस्थ यथा ज्योति*[20] *प्रकाशान्तरकारणम्*
तद्वच्छब्दोऽपि बुद्धिस्थ श्रुतीनाम कारण पृथक्॥ -

२ अजस्रवृत्ति य शब्द[21] सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते
व्यजनाद् वायुरिव स एव निमित्तात् प्रतीयते।

ये दोनो कारिकाए ही ध्वनि की अभिव्यक्ति और मूल व्यग्य को अनेकानेक व्यग्यो के कारण के सिद्धान्त का आधार बनी हैं।

ध्वन्यालोक मे वाच्य के साथ ही व्यग्य की प्रतीति सिद्ध करने हेतु घट

20 वाक्यपदीय 1 46
21 ,, 1.117

प्रदीप न्याय को उद्धृत किया गया है। आनन्द के मत में वाच्य, व्यंग्य की प्रतीति होने पर निवृत्त नहीं हो जाता जैसे घट प्रतीति के अनन्तर दीपक का प्रकाश घर में नहीं हटता। अर्थात् प्रकाश के अनन्तर जैसे घट और दीपक दोनों की प्रतीति साथ साथ होती है वैसे ही वाच्य और व्यंग्य भी प्रतीत होते हैं "तस्माद् घटप्रदीपन्यायस्तयो[22] यथैव हि प्रदीप-द्वारेण घटप्रतीतावुत्पन्नायां न प्रदीपप्रकाशो निवर्तते तद्वद्व्यंग्यप्रतीतौ वाच्यावभासः" धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक में भी ऐसा ही उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

"स्वज्ञानेनान्यधी हेतुः सिद्धेऽर्थे व्यञ्जको मतः
यथादीपोऽन्यथा भावे को विशेषोऽस्य कारकात्"।[23]

ध्वनिकार के मत में एक शब्द एक ही समय में कई अर्थों का बोधक हो सकता है। भर्तृहरि भी इसी मत का प्रतिपादन करते हैं। उनके मत में गो शब्द यद्यपि पशु विशेष का ही वाचक है परन्तु पशु मात्र के अतिरिक्त यह शब्द संख्या और लिङ्ग का भी बोधक बनता है क्योंकि गो शब्द के साथ इन सबका अनिवार्य सम्बन्ध रहता है। जैसे दीप का प्रयोग यद्यपि घटदर्शन के लिए होता है तथापि वह घट के साथ अन्य अनेक वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है।

'यथार्थिषु[24] यथा दीपा येनार्थेन प्रयुज्यते,
ततोऽन्यस्यापि सान्निध्यात् स करोति प्रकाशनम्।
संसर्गेषु[25] तथार्थेषु शब्दा येन प्रयुज्यते
तस्माद् प्रयोजकादन्यानपि प्रत्याययन्त्यमी।

कुमारिल भट्ट यद्यपि व्यंजना को नहीं मानते तो भी वे शब्दाभिव्यक्ति के सम्बन्ध में कुछ इसी प्रकार के विचारों की अभिव्यक्ति करते हैं।[26]

आनन्दवर्धन के मत में व्यंजना शब्द की औपाधिक शक्ति है अनिवार्य

22. ध्वन्यालोक पृ॰ 421
23. प्रमाणवार्तिक स्वार्थानुमान परिच्छेद, कारिका 265
24 वा॰ पदीय कारिका 300
25. ,, ,, 301
26 मीमांसा I. 1.6

आनन्दवर्द्धन मीमांसकों की एक आपत्ति का उत्तर देने के लिए व्यंग्य को नान्तरीयक और विवक्षित दो भागों में बांटते हैं। पहला वाच्य से भिन्न नहीं होता और दूसरा व्यंग्य ही वे ध्वनि मानते हैं, "सत्यमेतत्[32] किंतु वक्त्राभिप्रायप्रकाशेन यद् व्यञ्जकत्वं तत्सर्वेषामेव लौकिकानां वाक्यानाम् विशिष्टम्। तत्तु वाचकत्वान्नभिद्यते व्यंग्यं हि तत्र नान्तरीयकतया व्यवस्थितम्"। भर्तृहरि भी वाक्यपदीय में गौण मुख्य और नान्तरीयक शब्द शक्तियां स्वीकार करते हैं "एवं गौणमुख्यौ[33] विभागं उक्त्वा तत्प्रसंगे च सत्यासत्य विभाग विधाय पुनरपि शब्दनान्तरीयकविचारं वैतत्येन कर्तुम् आह।"

आनन्दवर्द्धन के मत में वाक्य का वैशिष्ट्य केवल एक ही अर्थ देने से नहीं होता। चाहे यह वैशिष्ट्य वाच्य के साथ ही आने वाला व्यंग्यार्थ क्यों न हो क्योंकि उनमें से एक मुख्य और दूसरा गौण होता है। भर्तृहरि भी दोनों अर्थों में इस प्रकार के सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं। गौ शब्द के साथ ही उसके लिङ्ग वचन आदि अर्थों के बोध के प्रसंग में इन विचारों की अभिव्यक्ति की गई है। इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। शब्द का वास्तविक अर्थ कौन सा है इसके बोध के लिए भर्तृहरि के मत में निम्न प्रकार हो सकते हैं;[34]

(i) कई बार प्रधान गौण सम्बन्ध महत्वहीन होता है।

(ii) कई बार स्थायी अर्थों का परित्याग करना पड़ता है।

(iii) कई बार सम्पूर्ण अर्थ का भी परित्याग करना पड़ता है।

(vi) कई बार अतिरिक्त अर्थ का भी बोध होता है।

'काकेभ्यो दधिरक्ष्यताम्' से कुत्ते, पशु आदि से भी दधि रक्षा का बोध अतिरिक्त अर्थ का बोध है। पुण्यराज[35] के मत में यह अविवक्षितान्यपरवाच्य का उदाहरण है।

आनन्द द्वारा असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य का विचार और समस्त रस प्रपंच को इसी में रखने का विचार भी भर्तृहरि से ही लिया गया लगता है। स्फोट

32. ध्वन्यालोक पृ० 441
33. पुण्य राज की वा० प० पर टीका II-300
34. वाक्य पदीय 305-308
35. ,, 314

ध्वनि के सम्बन्ध में भर्तृहरि कहते हैं कि कुछ लोग इसे असम्वेद्य और कुछ स्फोट से स्वतन्त्र स्वीकार करते हैं,

स्फोटरूपविभागेन[36] ध्वने ग्रहणमिष्यते ।

कैश्चिद् ध्वनेरसम्वेद्य स्वतन्त्रोऽन्यैं प्रकाशक ।

आनन्द व्यग्य को प्रकरण आदि से नियन्त्रित मानकर ही इसकी प्रतीति स्वीकार करते हैं अन्यथा नही, 'प्रकरणाद्यवच्छिन्नशब्दवशेनार्थस्य तथा विधि व्यजकत्वमिति' [37] भर्तृहरि की भी यही धारणा है कि एक ही शब्द का अर्थ भिन्न भिन्न व्यक्ति एक ही समय में भिन्न लेते हैं और इसका आधार स्थायी होता है ।

यथेन्द्रिय सन्निपातात् वैचित्र्येणोपदर्शकम्[38]

तथैव शब्दार्थस्य प्रतिपत्तिरपि अनेकधा ।'

अवस्था देश और काल के कारण एक ही वस्तु के विभिन्न रूप आनन्द द्वारा प्रतिपादित किए गए हैं । इस विषय की सम्पूर्ण कारिका ही भर्तृहरि से ली गई लगती है । पूर्वार्द्ध म तो शब्द वही है । देखिए दोनो कारिकाए

अवस्था[39] देशकालादि विशेषैरपि जायते,

आनन्त्यमेव वाच्यस्य शुद्धस्यापि स्वभावत ।

भर्तृहरि की कारिका इस प्रकार है

अवस्था[40] देशकालाना भेदाद्भिन्ना शक्तिषु

भावानामनुमानेन प्रसिद्धिरति दुर्लभा

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य आनन्दवर्द्धन को ध्वनि सिद्धान्त के प्रतिपादन का विचार अशत आनन्दवर्द्धन और अस्पष्ट रूप मे कुछ कुछ स्पष्ट पूर्ववर्ती आलकारिकों के व्यग्य सम्बन्धी सकेतो से प्राप्त हुआ । इस सिद्धान्त की प्रेरणा उन्हें लक्ष्य ग्रन्थो में विद्यमान काव्य सौन्दर्य के भाव से मिली और ध्वनि के नाम की प्रेरणा तथा इसके विशाल भवन के निर्माण की अधिक सामग्री भर्तृहरि के वाक्यपदीय से प्राप्त हुई ।

36 वाक्य पदीय 1 82
37. ध्वन्यालोक 33वी कारिका पर वृत्ति पृ० 425
38 वाक्य पदीय II 136
39. ध्वन्यालोक 4 उद्योत कारिका 7
40 वाक्य पदीय 1 32

यद्यपि आनन्द उसमें पूर्ववर्ती ध्वनि-परम्परा का संकेत करते हैं। परन्तु उनके कोई प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हुए। इस सम्बन्ध में मौखिक परम्परा का अनुमान भी किया जा सकता है। इतना विशाल एवं व्यापक चिन्तन बिना किसी पृष्ठभूमि के सम्भव नहीं लगता।

10

रस और ध्वनि : बलाबल का प्रश्न

डा० सुन्दरलाल कथूरिया

ध्वनि-सम्प्रदाय भारतीय काव्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्धन हैं, यद्यपि इस सम्प्रदाय का जन्म उनके जन्म से पहले ही हो चुका था।[1] आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि को जो काव्यात्मक स्वरूप प्रदान किया, उसका मूल उत्स सम्भवतः आचार्य वामन द्वारा उठाया गया काव्यात्मा का प्रश्न है। इस सम्प्रदाय को 'ध्वनि' संज्ञा की प्रेरणा अनुमानतः व्याकरण के 'स्फोटवाद' से मिली, किन्तु फिर भी व्याकरण की ध्वनि और काव्य की ध्वनि में भेद यह है कि व्याकरण की दृष्टि में प्रत्येक श्रूयमाण पद ध्वनि है, जबकि काव्य में प्रतीयमान अर्थ ही ध्वनि है।[2] ध्वनिसम्प्रदाय के उद्भव का विवेचन करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है—"अब तक जो सिद्धान्त प्रचलित थे वे प्रायः सभी एकांगी थे, रस सिद्धान्त भी ऐंद्रिक आनन्द को ही सर्वस्व मानता हुआ बुद्धि और कल्पना के आनन्द के प्रति उदासीन था। इसके अतिरिक्त दूसरा दोष यह था कि प्रबन्ध काव्य के साथ तो उसका सम्बन्ध ठीक बैठ जाता था, परन्तु स्फुट छन्दों के विषय में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि का संगठन

1. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैः समाम्नातपूर्वः । ध्वन्यालोक, 1।1
2. काव्यशास्त्र, प्रधान सं०—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० 91, 92.

सर्वत्र न हो सकने के कारण कठिनाई पड़ती थी और प्रायः अत्यन्त सुन्दर पदों का भी उचित गौरव न मिल पाता था। ध्वनिकार ने इन त्रुटियों को पहचाना और सभी का उचित परिहार करते हुए शब्द की तीसरी शक्ति व्यंजना पर आश्रित ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किया।"[3]

आनन्दवर्धन का ध्वनि विषयक दृष्टिकोण

आचार्य आनन्दवर्धन के मतानुसार "चारुत्व के उत्कर्षमूलक' से ही वाच्य और व्यंग्य का प्राधान्य विवक्षित होता है।"[4] अर्थात् 'वाच्य से अधिक उत्कर्षक-चमत्कारप्रतिपादक-व्यंग्य' को ध्वनि कहते हैं।"[5] आनन्दवर्धन ने ध्वनि की व्याख्या करते हुए लिखा है—"जहाँ अर्थ अपने को (स्व) अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस (प्रतीयमान) अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्यविशेष को विद्वान् लोग ध्वनि-काव्य कहते हैं।'[6] 'प्रतीयमान' पद की व्याख्या आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ में पहले ही अनेक स्थानों पर की है। वे लिखते हैं—प्रतीयमान कुछ और ही चीज है जो रमणियों के प्रसिद्ध (मुख, नेत्र, ओष्ठ, नासिका आदि) अवयवों से भिन्न (उनके) लावण्य के समान, महाकवियों की सूक्तियों में (वाच्य अर्थ से अलग ही) भासित होता है।[7]

ध्वनि के मुख्यतः दो भेद हैं—(१) लक्षणामूला (अविवक्षितवाच्य) और (२) अभिधामूला (विवक्षितान्यपरवाच्य)।[8] लक्षणामूला ध्वनि के मुख्य दो

3 ध्वन्यालोक (भूमिका), पृ० 37
4 चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा।
—हिन्दी ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत, पृ० 42
5 वाच्यातिशायिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्॥
साहित्यदर्पण, 41 उत्तरार्द्ध।
6 यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥ ध्वन्यालोक, 1।13
7. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥
—ध्वन्यालोक, 1।4
8. वही, पृ० 55

आत्मा है तो रस ध्वनि की आत्मा है।[14] इसके प्रमाण-स्वरूप ध्वनिकार का रसध्वनिविषयक विवेचन अवलोकनीय है—

रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रम ।
ध्वनेरात्माङ्गभावेन भासमानो व्यवस्थित ॥

अर्थात् रस, भाव, तदाभास (अर्थात् रसाभास और भावाभास) और भावशान्ति आदि (आदि शब्द से भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता का भी ग्रहण करना चाहिए) अक्रम (असलक्ष्यक्रम व्यग्य) अंगीभाव से (अर्थात् प्राधान्येन) प्रतीत होता हुआ ध्वनि के आत्मा (स्वरूप) रूप से स्थित होता है।[15]

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन रस को समादरभाव से ग्रहण करने के पक्ष मे हैं।

ध्वनि-सम्प्रदाय की ओर से रस-सिद्धान्त के विरुद्ध आक्षेप

ध्वनि-सम्प्रदाय की ओर से रस-सिद्धान्त के विरुद्ध अनेक आक्षेप किये जा सकते हैं। डा० सत्यदेव चौधरी ने 'काव्य की आत्मा' का विवेचन करते हुए प्रकारान्तर से इन आक्षेपों को इस रूप म प्रस्तुत किया है[16]—

१ ध्वनि तत्त्व काव्य म अनिवार्यत विद्यमान रहता है। यहा तक कि रस के उदाहरणो म भी इसी तत्व का अस्तित्व अनिवार्यत अपेक्षित है। रस का चमत्कार व्यग्यार्थ पर आधारित रहता है—रस वस्तुत ध्वनि का ही एक भेद माना जाता है।

२. ध्वनि तत्व रस की अपेक्षा कही अधिक व्यापक है।

समाधान

प्रथम आक्षेप का अभिप्राय यही है कि 'रस' का स्वतन्त्र अस्तित्व नही है, वह ध्वनि का एक भेद है। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि व्यजना रस-

14 हिन्दी काव्य-शास्त्र म रस-सिद्धान्त, डा० सच्चिदानन्द चौधरी, पृ० 106
15. ध्वन्यालोक, 213
16. काव्यशास्त्रीय निबन्ध, पृ० 136-37

निष्पत्ति का साधनमात्र है, काव्य का साध्य नहीं है। काव्य का साध्य रस है। ध्वनि वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारपूर्ण व्यंग्यार्थ है और यह रसात्मक भी हो सकता है। रस व्यंग्य होता है, वाच्य नहीं। किन्तु फिर भी रस का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करना ही उचित है। व्यंजना और ध्वनि को न मानने वाले भी बहुत से रसवादी आचार्य हुए हैं। स्वयं भरत ने ही व्यञ्जना और ध्वनि को किसी भी रूप में स्वीकार नहीं किया है। अतः ध्वनिवादियों का यह कथन ठीक होते हुए भी चिन्त्य है कि रस ध्वनि के अन्तर्गत है। ध्वनिवादियों के अनुसार रस के लिए ध्वनि अपरिहार्य है, रस ध्वनि में अन्तर्भुक्त है। परन्तु रस का महत्व उन्हें भी मानना पड़ा है—रस ध्वनि को ही वे सर्वश्रेष्ठ काव्य कहते हैं। रस की उपेक्षा करने या उसे एकदम गौण बना देने का साहस ध्वनिवादी भी नहीं कर सके हैं। यह कहना भी ठीक नहीं है कि ध्वनि तत्व काव्य में अनिवार्यतः विद्यमान रहता है। ध्वनिवादियों ने ही गुणीभूतव्यंग्य और शब्दचित्र तथा वाच्यचित्र की उपस्थिति में काव्य की सत्ता स्वीकार की है।

रस, अभिनव जैसे व्यंजनावादी आचार्यों के अनुसार भी, भावास्वाद, आस्वादात्मक स्थायी भाव, संवित्, संविद्विश्रान्ति अथवा आत्म-परामर्श है और इस रूप में यह ध्वनि का भेद या उसके अन्तर्गत नहीं माना जा सकता। शांकर वेदान्त के अनुयायी तो चैतन्य ब्रह्म (आत्मा) को ही रस कहते हैं। उनके दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखते हुए रस ध्वनि का भेद कैसे माना जाएगा? यों व्यंजना को शाङ्कर अद्वैतवाद भी स्वीकार करता है।

ध्वनि, जैसा कि महिम भट्ट का कहना है, रस के अभाव में पहेली मात्र है। वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि उक्तिवैचित्र्य या प्रहेलिका के निकट हैं, काव्य नहीं। ध्वनिवादियों के अनुसार भी ध्वनि काव्य की आत्मा है और रस ध्वनि की आत्मा है। अतः रस ही मूल तत्व है।

ध्वनि और रस के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है—'ध्वनि रस के बिना काव्य नहीं बन सकती और रस ध्वनित हुए बिना केवल कथित होकर काव्य नहीं हो सकता। काव्य में ध्वनि को सरस रमणीय होना पड़ेगा और रस को व्यंग्य होना पड़ेगा।............ अतएव दोनों की अनिवार्यता असंदिग्ध है, परन्तु प्रश्न सापेक्षिक महत्व का है। विधि और तत्व दोनों का ही महत्व है, परन्तु फिर भी तत्व, तत्व ही है। रस और ध्वनि में तत्व पद का अधिकारी कौन है? इसका उत्तर

अथवा अनुभूतियों का एक वर्ग होती है।[13]

इन विवेचन के फलस्वरूप निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

१. ध्वनि भारतीय काव्यशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय है और इसका फलक पर्याप्त विशाल है।

२. अधिकतर आचार्यों के अनुसार रस व्यंग्य है और यह मानना उचित है।

३. 'रस' और 'ध्वनि' परस्पर सम्बद्ध हैं। फिर भी रस की सत्ता स्वतन्त्र है। उसे ध्वनि में अन्तर्भुक्त नहीं माना जा सकता।

४. 'ध्वनि' और 'रस' में रस का अधिक महत्त्व है क्योंकि रस ही मूल तत्त्व है। वह ध्वनि रूप काव्यात्मा की भी आत्मा है।

५. 'रस' का सम्बन्ध अधिकांशतः अनुभूति के साथ है, और 'ध्वनि' तथा 'व्यञ्जना' का कल्पना के साथ। कल्पना अनुभूति के सम्प्रेषण का आवश्यक माध्यम होते हुए भी काव्य का सर्वस्व नहीं है। अतः 'रस' की महत्ता पर ध्वनिवाद की ओर से कोई प्रश्न-चिह्न नहीं लगाया जा सकता।

६. व्यापक रूप में रस की परिधि ध्वनि से भी अधिक विस्तृत है। उस स्थिति में 'रस' कविता और सर्जनात्मक साहित्य की प्रत्येक विधा को अपने में समाहित कर लेता है। अतः ध्वनि की व्यापकता के आधार पर रस की महत्ता का निराकरण सम्भव नहीं है।

७. रस काव्य का मूल और अनिवार्य तत्त्व है। अतः वही काव्यात्मा पद का अधिकारी है।

18. "इट इज द ओनली वे ऑफ डिफाइनिंग ए पार्टन सेन्सी, एन ए/ऑफ एक्सपीरिएन्स द्विच वु नाट डिफर इन एनी केरेक्टर मोर दन ए मेटर एमाउन्ट, बेंग फार ईच करेक्टर, भाल ए स्टैण्डर्ड एक्सपीरिएन्स, बी मे डक एज दिस स्टैंडर्ड एक्सपीरिएन्स दा रेलेवेंट एक्सपीरिएन्स आफ डिफरेंट रीडर्स क्लोजली इन्कलीनेशन दा कन्सीडिरेबल वेरिएशन.
—प्रिन्सिपिल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म, आइ० ए० रिचर्ड्स,
पृ० 226-227

11

ध्वनि : एक पुनर्मूल्यांकन

सुरेशचन्द्र शर्मा

काव्यानुभूति जीवनानुभूति की ही सम्भावनामूलक स्थिति है जिसमें कवि के व्यक्तित्व को विलय हो जाने से संवेगों का कलात्मक सन्तुलन अधिक सघन एवं जटिल हो जाता है। इलियट के अनुसार इसमें भावावेग की तात्कालिकता नियन्त्रित हो जाती है। यह कलाकार के निरन्तर आत्म-समर्पण की प्रक्रिया है। एक ऐसा प्रतिस्मरण है जिसमें वैयक्तिक संवेग उपशमित हो जाते हैं। इस प्रकार इलियट की निर्वैयक्तिकता भी अनुभूतियों की आयति में ही निहित है उनके परित्याग में नहीं। अभिनव-गुप्त ने काव्यास्वाद में ऐहिक बोध एवं व्यक्ति संसर्ग तथा दिक्काल आदि की सबंध-भावना के नष्ट होने के कारण ऐन्द्रिय धरातल से मुक्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके इस मान्यता को आधारभूमि प्रदान की थी।

वस्तुत कविता संवेगों की अविकल अनुभूति नहीं उनकी कलागत सत्य के रूप में अवतारणा है। समष्टि चेतना में अन्तर्मुख होकर कवि की अनुभूति में निःसंगता और आत्मपरकता का अद्भुत संश्लेषण उत्पन्न हो जाता है। वह केवल कवि की संवेदना को ही नहीं अपितु मानव की जिजीविषा, भावबोध तथा संवेदनात्मक उद्वेलन को रेखांकित करने लगती है। समष्टि चेतना में कवि का भावबोध समृद्ध होता है जो संवेदनात्मक प्रतिक्रिया को तीव्र एवं अनुभूतियों को सघन एवं संश्लिष्ट कर देता है। इस प्रकार काव्यानुभूति जीवनानुभूति में मूलत भिन्न नहीं है। उसमें

संवेग अधिक सघन एवं संश्लिष्ट होते हैं जो एक गुणात्मक परिवर्तन उपस्थित कर देते हैं। संवेगों के संश्लिष्टता समीकरण में अंत विरोधों का परिहार स्वत हो जाता है।

संवेगों की यह सघनता एवं संश्लिष्टता जितनी सूक्ष्म होगी तथा अंत विरोधों में जितनी समाहिति होगी वस्तु एवं शिल्प में अंत सश्लेष उतना ही प्रगाढ़ होगा। भारतीय काव्यशास्त्र में ध्वनि रस वक्रोक्ति रीति एवं औचित्य के प्रस्थान प्रकारान्तर से सावेगिक संश्लिष्टता के अन्त संबंधों के आख्यान ही हैं।

अनुभूति एवं उसकी अभिव्यक्ति का महत्व तभी है जब वह विशृंखल भाव संवेग को पूर्णानुभव के रूप में रूपायित करे। यह रूपायन अंत *समाहिति ही है जो संवेगों की सघनता से उसी प्रकार उद्भूत होती है* जैसे अवयविक संश्लेषण से एक विशिष्ट लावण्य।

यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तम् विभाति लावण्यमिवांगनासु।

—ध्वनिकार

अनुभूति (अर्थ) की निरावृत्त अविकल अभिव्यक्ति काव्य नहीं है। अनुभूतियों के अन्त विरोधों में फूटने वाला सामंजस्य ही काव्य है जो विलक्षण एवं विशिष्ट है अहप संवेदनों की झंकृति है।

यत्रार्थ शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।

व्यक्त काव्यविशेष स ध्वनिरिति सूरिभि कथित ॥

—ध्वनिकार

जहां विशिष्ट वाच्यरूप अर्थ तथा विशिष्ट वाचक रूप शब्द उस अर्थ को प्रकाशित करता है उस काव्य विशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है। यहाँ अर्थ (अनुभूति) शब्द (अभिव्यक्ति) स्वत गौण हो जाते हैं। प्रमुखता उस विशिष्ट रूप की होती है जो संवेगों के समीकरण का पर्याय होता है। *यह समीकरण जितना सूक्ष्म तीव्र एवं अशित होगा भावावेग उतने ही* परिपुष्ट होंगे। यही कारण है कि रस ध्वनि को काव्योत्कर्ष की विशेष वाहिका माना गया है।

किसी इतर अर्थ की व्यंजना ही ध्वनि नहीं है। उसके साथ सावेगिक परितुष्टि का योग आवश्यक है। अन्यथा किम्वदन्तियाँ चुटकुले और विडम्बनापरक काव्यांश श्रेष्ठतम काव्य कहे जायेंगे क्योंकि व्यंग्यार्थ की अतर्कित गति उनमें सर्वाधिक होती है। अलंकार जगत् की अर्थ छवियां

में संयुक्त होकर ही भावोद्रेक में सहायता देते हैं, जितनी विविध भंगिमाओं और छायाओं का अन्तः ग्रन्थन किसी बिम्ब में होगा वह उतना ही उत्कृष्ट एवं काव्य सौन्दर्य का वाहक होगा। साम्य में अन्तः समाहिति प्रत्यभिज्ञान के धरातल पर होती है एक क्षीण अनुभूति संस्कारजनित पूर्वानुभूति अनुभव खण्डों का प्रत्याह्वान करती है। यह प्रत्याह्वान यदि बाह्याकारों की अपेक्षा गहन प्रभावों का समाहित करता है तो अधिक मनोरम सृष्टि का उपादान बनता है। प्रभाव साम्य में अन्तः समाहिति का धरातल अधिक सूक्ष्म, जटिल एवं संश्लिष्ट होता है। तद्विपरीत परिसंख्या एवं विरोधाभास में यह समाहिति कृत्रिम रूप में विशृंखलित करके पुनः समंजित की जाती है, सार्वत्रिक अन्तः विरोध की वास्तविकता में नहीं उभरती है, अतः रसार्द्र न करके विस्मित ही कर पाती है, सार्वभौमिक परितुष्टि प्रदान नहीं करती। उक्तिचमत्कार में जितनी अन्तः समाहिति होगी वह उतना ही काव्योत्कर्ष का विधायक होगा।

सामान्यानुभूति काव्य का उपस्कर नहीं है। अनुभूति संघात की विलक्षणता ही चमत्कार का आधायक होती है। एक विशिष्ट सरणि में गतिशील अनुभूतियों को जब अनपेक्षित दिशा प्राप्त होती है तो वे विशृंखल होकर पुनः एक भिन्न रूप में समंजित हो जाती हैं। निश्चय ही यहाँ मानसतन्त्र की गति सामान्य अनुभूति के समान ऋजु न होकर वक्र एवं विलक्षण होती है।

अनुभूति अपने निराकृत एकाकी रूप में अपारदर्शी होती है, पारदर्शिता अनुभूतियों की संश्लिष्टता से आविर्भूत होती है। यह संश्लिष्टता जितनी व्यापक एवं गहन होगी उनकी पारदर्शिता या प्रतीयमानता उतनी ही प्रखर एवं प्रभावी होगी। यही काव्य की समान भूमि है जो मूलतः स्वयं को अतिक्रमण करने की अन्तः प्रक्रिया है। यही काव्य की कल्पगति या सारभूत प्रभाव है। इसको सम्मूर्तित करने का माध्यम इसकी समन्वित गति को निर्धारित करने वाली प्रक्रिया काव्य का शिल्प है। यह अनुभूतियों के संयोग की आवृत्ति दीर्घता एवं गम्भीरता का प्राविधिक विनियोग है। प्रौढ़ हृदय की ललित क्रीड़ा में उद्बुद्ध कवि की सौन्दर्य चेतना आहूत होकर जिन विविध संवेदनाओं का संश्लिष्ट करती है वे एक पारदर्शी अस्तित्व में ढल जाती हैं। विश्व के विराट् मानस में घटित होने वाली समकालीन करुणा और पीड़ा की छाया उसके नीचे झलमलाने लगती है।

शोषण के विरुद्ध आक्रोश का यह स्वर शोक की भावानुभूति का अतिक्रमण करता हुआ, चित्तवृत्ति को स्फीत करता हुआ, चेतना गहन स्तर पर संक्रमण कर जाता है। यही काव्य की ऊर्ध्व गति है। जिसे ध्वनिकार ने प्रतीयमान कहा है।

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवे पुरा।
क्रौंचद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

काव्य की आत्मा यही प्रतीयमान है। इसी में क्रौंच के वियोग से उत्पन्न आदि कवि का शोक श्लोक रूप में परिणत हो गया। श्लोक की यह अतिभूमि शोक की मनःस्थिति की निराकृति स्थिति से भिन्न अनेक संवादी विवादी स्वरों की संश्लिष्टता होती है जिसकी परिणति रमणातिरमणीयता या मूलानुभूति के पुनरनुसन्धान में होती है। 'अहो गीतस्य माधुर्यम्' में परिणति का यही स्वर है।

अनुभूति अपने मूलरूप में किसी वस्तु स्थिति की एकान्त व्यक्ति-निष्ठ चेतना है जो अन्य संवादी एवं विसंवादी चेतनाओं से संश्लिष्ट होकर एक अस्तित्व बोध में रूपान्तरित हो जाती है। यह बोध पर्यायान्तर से अनुभूति की स्वयं की अतिक्रमण करने की प्रक्रिया ही है जो एक विशिष्ट संभाव्य की उपस्थितियों सचेतना जगाती है। कवि के आत्मबोध और अस्तित्व बोध का यह संघर्ष जितना तीव्र होगा विविध संवेदनाओं की अन्तःसमाहिति का अवकाश भी उतना ही सघन होगा और काव्यानुभूति भी उसी सीमा में प्रखर होगी। आत्म से आत्म के अतिक्रमण की चेष्टा ही उस विच्छिति एवं भंगिमा को जन्म देती है जिसका रूपायन काव्य है और जिसकी प्राविधिक इकाई काव्य शिल्प है। 'मुझे प्यास लगी है' यह मेरी आत्मनिष्ठ स्नायविक संचेतना है जो एक विशिष्ट स्थिति का बोध मात्र है। इसका शब्दपरक अस्तित्व इसकी प्रयोजनीयता से एकान्त सीमित है उससे बाहर इसकी अर्थवत्ता की गति नहीं है। अब वैसी ही इस स्नायविक संचेतना में अन्य समान धर्मा संचेतनाएं आकर संश्लिष्ट होती हैं यह अनुभूति स्वयं का अतिक्रमण करने लगती है। प्राणों की अजस्र अतृप्त लालसा आदर्श और कल्पनाओं की स्पन्दना, सृजन से वंचित यथार्थ की ऊष्मा, किसी असम्भाव्य प्राप्य की दुर्वार अभिलाषा या मात्र रक्त की ज्वलनशील तृषा आदि अनेक संवेदनाएं विविध स्तरों पर सम्पृक्त होने लगती है और अपने स्नायविक आकुंचन की अनुभूति में

परे एक विशिष्ट अस्तित्त्व मे स क्रमण कर जाती है। इस स श्लिष्ट चेतना के रूपायित होते ही एक स भाव्य स चेतना को अभिभूत कर लेता है। स श्लिष्ट जितने विविध धरातलो को अन्तसमाहित करेगी यह स भाव्य उतना ही प्रखर तथा स चेतना का आप्लावन उतना ही व्यापक होगा।

पर सरोवर के किनारे कठ मे जो जल रही है
उस तृषा उस वेदना को जानता हू,
आग है कोई नही जो शान्ति होती
और खुलकर खेलने से भी निरन्तर भागती है।

—दिनकर

यहा तृषा उद्‌गम तो कठ के स्नाविक स्तर पर ही होता है किन्तु उसमे मानसिक, मौतिक ऐन्द्रिय स वेदनो का स श्लेष उसे कठ्य तृषा से परे कामानुभूति की अखण्डता एव अतृप्ति तथा इनसे उभरने वाली आध्यात्मिक तृषा और दोनो के मध्य दोलायित स कल्प-विकल्पनात्मक मन के विविध स्तरो के उद्‌घाटन की विविध स चेतनाओ मे सक्रमित कर देता है। मूलतृषा अपने अस्तित्व का अतिक्रमण करके जिस अस्तित्व को ग्रहण करती है वह ही उसका स भाव्य है जो स्वय अपने अस्तित्व से परे की स्थिति है और चू कि यह अस्तित्व अभी तृषा से, काम तृषा से सतही स्तर पर सम्बद्ध है उसे अधिक गहन स्तर पर अतिक्रान्त नही कर सका है अत अन्त समाहिति का अवकाश भी नगण्य है। इसका काव्य मूल्य अपेक्षाकृत हीन है तद्विपरीत

क्या जाने वह कैसी थी आनन्द सुरा अधरो तक आकर,
बिना मिटाये प्यास गई जो मुख जलाकर अन्तर।

—निराला

यहा अतिक्रमण अधिक प्रखर है क्योकि विस बादी सूत्रो का स प्रथन अधिक गहन स्तर पर है। फलत स भाव्य या प्रतीयमान अस्तित्त्व भी उतना ही सप्राण है।

प्रश्न यह है कि विविध स चेतनाओ का मूल सचेतना से समजन कितने व्यापक स्तर पर है और उनकी अन्त समाहिति कितने गहन धरातल पर है। जहाँ विस वादी सूत्रो का सायाम समाहार होना है वहाँ अस्तित्त्व की केन्द्रापगामी शक्ति कुण्ठित हो जाती है। वहा अनुभूति स्वय का अतिक्रमण

न करके पृथक अस्तित्व ग्रहण किये रहती है और शेष सचेतनाएं बाह्यत आरोपित होकर एक स्वतन्त्र अस्तित्व में परिणत हो जाती है। अतिक्रमण के अभाव म अन्त समाहिति नहीं होती। अत बिम्ब, प्रतीक एव अप्रस्तुतो की योजना मे कलाकार के भावबोध की अनुष्ठित गति अनिवार्य है। सम्प्रभावी स वादी एव विसवादी सचेतनाओ की उद्भूति यदि उस भावबोध की सहज प्रक्रिया में नहीं होगी तो स भाव्य या प्रतीयमान अस्तित्व या तो धूमिल एव दुर्बोध होगा या शून्य। अस्तु, सचेतनाओं की व्यापक स श्लिष्ट और गहन स्तर पर उनकी अन्त समाहिति काव्य शिल्प के मूल्यांकन की आधारभूत प्रतीयमान है। प्राचीनो न इस रसध्वनि कहा है। जहा मूल अनुभूति अन्य अनुभूतियों के आवयविक स श्लेष से ऊपर प्रतीयमान अर्थ को व्यजित करती है वहीं काव्य का सारभूत प्रभाव होता है।

> पीता हू हा मैं पीता हू
> यह शब्द रूप, रस, गन्ध भरा।
> मधु लहरो क टकराने स,
> ध्वनि म है क्या गु जार भरा।
>
> —प्रसाद

यहाँ विविध एन्द्रिय स वेदनाओ का सश्लिष्ट बिम्ब काम-चेतना की आधारभूमि पर उभरा ह। मूल भाव-चेतना एक साथ विविध इन्द्रिय बोधो को आत्मसात् करके सौन्दर्य चेतना म परिणत हो गई है। यही सौन्दर्य चेतना काम की प्रेरिका शक्ति है जो विविध इन्द्रिय बो.ों की अमिश्रित सहज वेदनात्मक अनुक्रिया है। प्रेम के तन्मीभावन की अनिवार्य परिणति का यह बिम्ब सम्प्रभावी स वादी सचेतनाओ की समाहिति का सहज परिणाम है। 'पीता हू' यह अनुभूति स्वय का अतिक्रमण करके तन्मयीभावन के सभाव्य अस्तित्व म अन्तर्मुक्त हो गयी है।

> नयन मे जिसके जल्द वह तृषित चातक हू,
> शलभ जिसके प्राण मे वह निठुर दीपक हू।
>
> —महादेवी

यहाँ तृषा की अनुभूति आध्यात्मिक प्रणयानुभूति की सचेतना से सश्लिष्ट होकर जिस अतृप्ति एव उत्कृष्ट प्रेमोन्माद की सभाव्य भूमि की ओर बढती है उसका धरातल परम्परागत प्रतीक है परन्तु मानसिकता

के विविध स्तर असम्पृक्त ही छूट जाते हैं। अतिक्रमण यहाँ क्रमिक न होकर सीधे सामान्य को समेटना चाहता है जो एक कृत्रिम प्रयास है। अतः प्रतीयमानता सीधी और सतही रह जाती है। सम्भाव्य और मूल अनुभूति के मध्यवर्ती आयामों के असम्पृक्त रह जाने से चित्तवृत्तियों की जटिल समाहिति में झाँकने वाली अन्य संवेदनाओं और अर्थ-छवियों का योग उसे नहीं मिल पाता, अतः प्रतीयमान अर्थ यहाँ अवास्तविक तथ्य का रूपान्तरण मात्र लगता है, अपने अभिधेय से परे की व्यंजना नहीं।

12

ध्वनि का महत्त्व

डा० कुन्दन लाल उप्रेती

प्रायः एक स्वर से विद्वानों ने ध्वनि-सिद्धान्त को भारतीय-साहित्यशास्त्र में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना है।[1] ध्वनि सिद्धान्त से पूर्व अलंकार सिद्धान्त काव्य के एक पक्ष—उक्तिचारुता—पर ही प्रकाश डालता है। इसी प्रकार रीति सिद्धान्त भी पद-रचना पक्ष पर ही ध्यान केन्द्रित करता है। यह सत्य है कि अलंकार रीति सिद्धान्तों में यत्र-तत्र व्यापकतत्त्वनिर्देशक संकेतवाक्य[2] मिलते हैं किन्तु उनको केन्द्रीय स्थिति प्राप्त नहीं हो सकी और उक्त दोनों सिद्धान्त एकपक्षीय ही रह गए। इसके अतिरिक्त अलंकार सम्प्रदाय में महाकाव्यों के सन्दर्भ में रसों का अस्तित्व स्वीकार किया गया है किन्तु स्फुट काव्य में संवेगों के महत्त्व की चिन्ता न कर उसे केवल रसवत् अलंकार मात्र मान लिया गया है।

ध्वनिसिद्धान्त एक व्यापक सिद्धान्त है। इसकी सत्ता उपसर्ग और प्रत्यय से लेकर सम्पूर्ण महाकाव्य तक है। पदविभक्ति, क्रियाविभक्ति,

1. टुवार्ड्स द थ्योरी आफ इमैजिनेशन—एस० सी० सेनगुप्ता—पृ० 163
2. भामह 'वक्रोक्ति' को काव्यमात्र का सर्वस्व मानते हैं और वामन 'विशिष्ट पदरचना' को रीति कहकर विशेष को 'गुणात्मा' कहकर काव्य और कान्ति में 'चित्तवृत्ति' का सद्भाव स्वीकार करते हैं, किन्तु इन व्यापक धारणाओं के विशद विवेचन के अभाव और अलंकारों, रीतियों के विभाजन पर ही अधिक अभिनिवेश के कारण ये दोनों सिद्धान्त एकांगी ही रह गए हैं।

वचन, सम्बन्ध, कारक, कृत्प्रत्यय, तद्धित प्रत्यय, समास, उपसर्ग निपात, कालादि से लेकर वर्ण, पद, वाक्य, मुक्तक पद्य और महाकाव्य तक उसके अधिकार क्षेत्र का विस्तार है। *जिस प्रकार एक उपसर्ग या प्रत्यय या* पदविभक्ति मात्र से एक विशिष्ट रमणीय अर्थ का ध्वनन होता है, इसी प्रकार सम्पूर्ण महाकाव्य से भी एक विशिष्ट अर्थ का ध्वनन या स्फोट होता है। प्र, परि, सु, वा, ड़ा, आदि जहाँ एक रमणीय अर्थ को व्यक्त करते हैं, वहाँ 'रामायण' और 'महाभारत' जैसे विशालकाय ग्रन्थ का भी एक ध्वन्यर्थ होता है जिसे आधुनिक शब्दावली में संकेत, मूलार्थ आदि अनेक नाम दिए गए हैं।[3]

अलंकार सम्प्रदाय में महाकाव्य और मुक्तक काव्य के लिए अलग-अलग मानदण्ड थे किन्तु ध्वनि सिद्धान्त एक ही निकष पर काव्य मात्र का परीक्षण करता है। तत्स्पर्शी दृष्टि से देखने पर तो ध्वनि सिद्धान्त कलामात्र का एक मान्य मापदण्ड प्रतीत होता है। प्रत्येक चित्र, मूर्ति, संगीत और स्थापत्य, *शरीर में लावण्य के सदृश "कुछ और" ही व्यंजित करते हैं। यह* जो संकेतित या व्यंजित अर्थ या सत्य होता है, वही कलाकार का मंतव्य होता है,[4] जिसे कभी भी प्रत्यक्षतः कथित या अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। उसे तो रेखाओं, रङ्गों, प्रस्तर, काष्ठ, स्वर आदि उपकरणों द्वारा कलाकार अपनी अनुभूति, धारणा और कल्पना का एक विशिष्ट रूप देता है। और यह रूप रमणीय होता है जिसे दर्शक सदा ध्वनिमय पाता है। *प्रत्येक क्षण नवीन संकेत उस रूप से उभरते रहते हैं।* रामायण, महाभारत, कामायनी, पैराडाइज़ लॉस्ट, हैमलेट, किंग लियर, युद्ध और शान्ति (तोल्सतोय), फाउस्ट (गेटे) वेस्ट विंड (शैली) वेस्ट लैंड (इलियट), उर्वशी (रवीन्द्र), कोणार्क का मंदिर, दिल्ली का किला, ताजमहल, राग रागिनी, श्रेष्ठ भित्तिचित्र, ग्रीक और भारतीय मूर्तियां, पिकासो के चित्र[5]—सर्वत्र ध्वनिमयता के कारण ही ये श्रेष्ठ कलाकृतियां नित्य रमणीय हैं। इनमें या तो *किसी तथ्य या सत्य को, अथवा किसी बिम्ब को, अथवा किसी सम्वेग या अनुभूति को ध्वनित किया गया है। अथवा ये तीनों* तत्त्व निमित्त रूप

3 ध्वन्यालोक—भूमिका—डा० नगेन्द्र—पृ० 14-15
4. द डास आफ शिव—आनन्द-के-कुमारस्वामी—पृ० 84
5. ब्राक, सेज़ाँ, वोगाँ, वैन गोग आदि आधुनिक चित्रकारों की कला भूयसा. ध्वनिमय है

ध्वनित हुए हैं। यथा प्रसिद्ध 'नटराज' की मूर्ति में[6] वस्तुव्यंजना, अलंकार व्यंजना और भावव्यंजना तीनों चरमोत्कर्ष प्राप्त कृतियों में यह ध्वनित करने की शक्ति ही उन्हें 'कालजयी' बनाती है। विभिन्न कालों में एक ही कृति की अनेक व्याख्याओं और उनसे प्राप्त होने वाले अनेक मानवीय सत्यों के उद्घाटन से यही सत्य प्रमाणित होता है कि कला का सर्वस्व ध्वनि है। इससे कला और काव्य तक पार्श्वी न रह कर अनेक आयामी बनते हैं और वे आयाम एक से दूसरे दूसरे से तीसरे—इस ध्वनि प्रवाह-विधि से दर्शक तथा पाठक की चेतना को मथित चालित करके इस कृति विशेष से अपने जीवन सन्दर्भ के अनुकूल ध्वनिग्रहण के लिए प्रेरित करते हैं। इकहरी कला में ये 'कालजयी' तत्त्व नहीं होते। उदाहरण के लिए 'भारतभारती' इकहरी काव्यकृति है और साकेत उसकी तुलना में विविध ध्वनियों से युक्त कालजयी कृति है। 'कामायनी' में और भी अधिक संश्लिष्ट ध्वनि है और 'अन्धायुग' (भारती), 'सन्देह की एक रात' (नरेश मेहता), 'आत्मजयी' (कुँवर नारायण) आंगन के पार द्वार' (अज्ञेय) आदि नवीन रचनाओं में भी ध्वनिमयता के कारण ही रमणीयता आ सकी है। द्विवेदी-युगीन इतिवृत्तात्मक, उपदेशपरक काव्य साधारण काव्य है, किन्तु छायावादी, प्रगतिवादी (मुक्तिबोध, शमशेर आदि) तथा प्रयोगवादी कृतियों में श्रेष्ठ रचनाओं की शक्ति तथा प्रभाव का कारण उनकी ध्वनि-शक्ति ही है। जिस प्रकार रामायण से मानव-जीवन के विविध रूप ही ध्वनित नहीं होते, मानव-जीवन की करुण नियति भी ध्वनित होती है तथा जिस तरह महाभारत से वीरता और पराक्रम की ही व्यंजना नहीं होती वरन् युद्ध की व्यर्थता भी ध्वनित होती है, उसी प्रकार छायावादोत्तर श्रेष्ठ काव्य में समसामयिक जीवन की संश्लिष्ट-करुण, संशयग्रस्त, भ्रम-भययुक्त अनिश्चयपूर्ण, किंकर्तव्यविमूढ़, व्यक्तिनिष्ठ-आत्मकेन्द्रित, विक्षोभ-विद्रोह युक्त मानवमूर्ति ध्वनित हो उठती है। जो कवि जितने संश्लिष्ट रूप में छायावादोत्तर अभीप्साओं, द्वन्द्वों और तृतीय विश्वयुद्ध की आशंका-जन्य मानव चेतना को अपनी कृति में ध्वनित कर सका है, वह कृति उसी मात्रा में "रमणीय" बन सकी है। आधुनिक सभ्यता की संक्रान्ति को ध्वनित करने वाली हमारी काव्यकला इस 'ध्वनि' तत्त्व के कारण ही

6. द डान्स आफ शिव—पृ० 70-71

आकर्षण है।

छायावादोत्तर काव्य मे अनेक प्रयोगो द्वारा वाच्यातिशायी आधुनिक द्वन्द्वो को व्यजित किया गया है। आधुनिक चेतना मे सहजता और सरलता नही है। उसके आर्थिक राजनैतिक तथा सामाजिक कारण हैं परन्तु सत्य यह है कि वह सहज नही है विकल्प-विक्षोभ युक्त है। इसीलिए इस काव्य मे साकेतिकता अधिक है अभिव्यक्ति अटपटी, गूढ, नानार्थक और विविधायामी है। अत इसका परीक्षण केवल ध्वनि-सिद्धान्त द्वारा ही समव है। इस काव्य म ध्वनित तत्व कोई स्थूल स्थायीभाव नही है, उसमे एक दूसरे को काटने वाले सम्वेगो, अनुभूतियो और भावो का जटिल रूप है अत उन्हें चित्रित करने वाले बिम्ब प्रतीक भी अभूतपूर्व हैं। ये बिम्ब, प्रतीक भी 'ध्वनित रूप मे ही अधिक है—बाहर से चिपकाए हुए अलकार मात्र नही। इसी प्रकार जिन रचनाओ मे वस्तु व्यजना है, उनमे भी वस्तु का विवरण या वर्णन नही है अपितु 'वस्तुव्यजना दुरूह और जटिल है क्योकि द्रष्टा की चेतना द्वन्द्वग्रस्त है। अतएव आधुनिक कवि को न तो अलकार सिद्धान्त रुचता है और न रीतिसिद्धान्त। प्राचीन रससिद्धान्त भी 'फार्मूला' रूप म उसे पर्याप्त नही लगता किन्तु ध्वनि-सिद्धान्त उसे उपयोगी लगता है क्योकि उसने साकेतिकता पर ध्यान दिया है। आधुनिक काव्य और चित्रकला म अद्भुत सादृश्य मिलता है। पिकासो की कला म ऊपरी सादृश्य को भग कर दिया जाता है। अनुकृतिवाद सवप्रथम आधुनिक चित्रकला मे अपूर्ण सिद्धान्त प्रमाणित होता है। जो प्रथम दृष्टि म रूप सम्मुख आता है वह विचार करने पर लुप्त होने लगता है और 'रूप द्रष्टा की दृष्टि म युग के अनुसार बदलने लगता है। यदि आज के जीवन म व्यवस्था और सगति का अभाव है तो रूप रचना म अवयवो की सगति कैसे रह सकती है। इसी प्रकार सक्रान्तिकालीन मानसिक स्थितियो म वस्तुओ और व्यक्तियो के रूप विखडित, अस्त-व्यस्त अयथास्थापित और अद्भुत प्रतीत होने लगते हैं। युद्धकालीन कला म मनुष्य का रूप हिंसक और अविश्वासपूर्ण हो उठता है अत बाह्यप्रतीति सुन्दर लगने पर भी चित्रकार व्यक्ति के आन्तरिक और प्रकृत रूप को चित्रित करते हैं और यह आन्तरिक रूप विषम और विरूप है। अत इस वास्तविक रूप का चित्रित करने के लिए 'अमूर्तन कला' का जन्म हुआ जो प्राचीन मध्यकालीन रसवादी मापदण्ड पर परीक्षित नहीं हो सकती। क्योकि उसम किसी एक भाव' का अनक 'भावो स पुष्ट

करने की समस्या नहीं है। उसमें एक केन्द्रीय भाव ही नहीं है। उसमें तो प्रत्येक विवरण महत्त्वपूर्ण है। इन विवरणों में कोई संगति भी नहीं है। अतः आधुनिक मनुष्य की इस उलझनभरी चेतना को संकेतित करना ही चित्रकला का मुख्य कर्त्तव्य हो गया है। इसलिए ध्वनि सिद्धान्त के आधार पर ही इस नवीन अमूर्त चित्रकला का परीक्षण संभव है।

संकेत मुख्य होने के कारण प्रत्येक वस्तु प्रतीक रूप में प्रतीत होने लगती है और इस तरह की दृष्टि से अतः मन जो सम्वेग कार्यरत रहते हैं वे एक नहीं अनेक होते हैं। वस्तुतः उन सवेगों का स्पष्ट अनुभव ही नहीं होता। एक अजीब ऊब, विक्षोभ उदासी, निरर्थकता (एबसर्डिटी), अतिशयास टूटन और घुटन का अनुभव होता है। वस्तुएं, भाव, विचार और कल्पनाएं एक दूसरे से मिलकर एक जटिल मानसिक स्थिति की सृष्टि करती हैं। इसलिए आधुनिक चित्रकला 'सहज' और बाह्यसादृश्य युक्त नहीं रह गई है। ऐसी दुरूह और विषम मानव नियति को व्यंजित करने वाली चित्रकला का निकष 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः" कैसे हो सकता है ?

यदि प्राचीन रससूत्र को इस रूप में स्वीकार किया जाय कि कलामात्र में कोई सवेग अन्तर्निहित रहता ही है तब कोई आपत्ति नहीं रहती। किंतु कठिनाई यह होगी कि 'रस' शब्द का प्रयोग तब व्यर्थ हो जाएगा क्योंकि कला और काव्य में केवल सवेग या भाव या अनुभूति भी रहती है और साथ ही 'वास्तविकता का बोध" भी रहता है कल्पना भी रहती है। ध्वनि-सिद्धान्त इसीलिए काव्य में ध्वनित तत्त्वों में वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि को भी स्वीकार करता है। वह "रसध्वनि" को श्रेष्ठ मानता है क्योंकि ध्वनिसिद्धान्त के उद्भव के समय तक वस्तुतः रस-प्रधान काव्य ही श्रेष्ठ था और चित्रकला, संगीत आदि में भी 'रस' ही प्रधान था। रसों में 'शृंगार' की प्रधानता थी। अतः ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रवर्तक की रुचि-विशेष के कारण ही 'रसध्वनि' को श्रेष्ठ घोषित किया गया।

आधुनिक काव्य कला में रस-प्रधान धाराएं भी हैं। यथा गीत काव्यों, परम्परावादी प्रबन्ध काव्यों और प्रयोगवादी-प्रगतिवादी काव्य में भी यत्रतत्र रसप्रधान रचनाएं मिल जाती हैं। किन्तु आधुनिक काव्य और कला का मुख्य स्वर वस्तु-बिम्ब-व्यंजना प्रधान हो गया है। इसलिए रसवाद के स्थान पर "ध्वनिवाद" अधिक व्यापक प्रतीत होता है।

व्यापकता के आधार पर ध्वनिवाद की श्रेष्ठता के पश्चात् ध्वनि-सिद्धान्त की अपूर्णताओं पर भी विचार होना चाहिए। सम्पूर्ण भारतीय काव्य-सिद्धान्त वास्तविकता के बदलते हुए बोध पर ध्यान नहीं देते। 'रसवाद' में मूल स्थायी भावों पर ही सर्वाधिक ध्यान दिया गया है। किन्तु प्रत्येक युग में ये मूलभाव वास्तविकता के बोध के सन्दर्भ में वर्णित होकर ही 'रमणीय' साहित्य की सृष्टि करते हैं अतः बोध (कान्शसन) का महत्व भाव से कम नहीं है। वस्तुतः भाव और मूल प्रवृत्तियाँ इसी परिवर्तनशील बोध से "कन्डीशन्ड" होती हुई चलती हैं, और इन्हें दिशा भी यही बोध देता है। यह 'बोध' व्यक्ति और परिवेश के द्वन्द्व और संघर्ष में जन्म लेता है और नए-नए विचारों और धारणाओं के रूप में अवतरित होता है। यह बोध अपने युग की परिस्थितियों को मानव के अनुकूल बनाने के लिए संघर्ष करता है और भाव, कल्पना आदि का अपने लिए उपयोग करता है, तब साहित्य की आत्मा 'रस' है यह कहना अधूरा सत्य है। यह उसी प्रकार अधूरा सत्य है जिस प्रकार यह कहना कि साहित्य की आत्मा अलंकार है या रीति है। जिस प्रकार हम आज 'आत्मा' को शरीर से स्वतन्त्र तत्व नहीं मानते उसी प्रकार साहित्य और कलाओं की आत्मा न केवल भाव है, न केवल अलंकार, न रीति, न केवल बोध। शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर और भाव को आत्मा मानकर शरीर और आत्मा का "द्वैतवाद" आज के वैज्ञानिक युग में स्वीकृत नहीं हो सकता। मनोविज्ञान में भी ऐसा "द्वैतवाद" स्वीकृत नहीं है। अतः ध्वनित होने वाले तत्वों में किसी एक को आत्मा मानना अयुक्तियुक्त है। ध्वनि-सिद्धान्त में अलंकार को जो बाह्य आभूषण मात्र माना गया है, वह अलंकार को संकुचित अर्थ में ग्रहण करके ही माना गया है। परन्तु वही अलंकार जब ध्वनित होता है तो उत्तम काव्य की सृष्टि करता है। वस्तुतः काव्य और कला में बोध, भाव, बिम्ब, कल्पना और शब्द-अर्थ सब तत्व एक अविभाज्य प्रक्रिया द्वारा 'रसायन' का रूप धारण करते हैं। इन तत्वों में प्रत्येक का महत्वपूर्ण योगदान होता है। केवल 'भाव' भावुकता का उद्भावन करता है कोरी कल्पना मानवसम्वेदना-हीन बनकर जीवन-हीन जादू की सृष्टि कर सकती है। कोरा "बोध" दार्शनिकता में परिणत हो जाता है और कोरे बिम्ब-प्रतीक अलंकार शव के अलंकार मात्र रह जाते हैं। अतः ध्वनि-सम्प्रदाय में जहाँ "द्वैतवाद" मिलता है वह अग्रहणीय है। इसके अतिरिक्त बोध की उपेक्षा का कारण

भारतीय काव्यशास्त्रियों का अपरिवर्तनशील विश्वदर्शन (वर्ल्ड व्यू) है। विशेष रूप से भारतीय काव्य और काव्यशास्त्र समाज में आमूलचूल परिवर्तन के साथ सम्बद्ध नहीं किया गया क्योंकि परिवर्तन और क्रान्ति की पुकार आधुनिक धारणा है अत वाद का योगदान ध्वनि-सिद्धान्त में जोड़ना होगा।

ध्वनि-सिद्धान्त की एक और अपूर्णता भामह, दण्डी, वामन आदि की भाँति विभाजनवाद की स्वीकृति है। ध्वनि-सिद्धान्त रचना प्रक्रिया की दृष्टि से "मूलत" उपयोगी है किन्तु उनका सर्वव्यापकत्व सिद्ध करने के क्रम में ध्वनि के अनेक भेदोपदेश वस्तुत अनुपयोगी हैं क्योंकि एक ही उदाहरण कई कोटियों में प्रतिष्ठित किया जा सकता है। फलत काव्य के सर्वमान्य मापदण्ड की खोज में इस प्रवृत्ति से कोई लाभ नहीं होता अपितु स्पष्टता और उलझन खड़ी होती है। साथ ही काव्यकला के अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों से ध्यान हटकर विभाजन के पाण्डित्यपूर्ण प्रपञ्चों में पाठक का मन उलझ जाता है। काव्य-मीमांसा म काव्य की रचना-प्रक्रिया के अतिरिक्त और प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण हैं जैसे काव्य-कला का प्रभाव, मूल्यमीमांसा, युगानुसार बदलते काव्यरूप और उनके कारण, उनके मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय अध्ययन आदि। इसके साथ ही साथ अमुक काव्य या पद में कौन-सी ध्वनि है, यह भी महत्त्वपूर्ण है। परन्तु इसका कोटिनिर्देश मात्र पर्याप्त नहीं है। उससे अधिक महत्त्वपूर्ण है उस ध्वनि की मन में अवतारणा की प्रक्रिया, उसके कारणों का विश्लेषण तथा उसके प्रभाव की समीक्षा। ध्वनि-सिद्धान्त ने जिस सांकेतिकता (सजेशन) का कला का सर्वस्व बनाकर प्रत्येक प्रकार के काव्य का कोटिकरण ध्वनि के सन्दर्भ म कर दिया, इसी की प्रतिक्रिया-स्वरूप कुन्तक ने ध्वनि के स्थान पर 'वक्रोक्ति' का काव्य की आत्मा मानकर वक्रोक्ति के सन्दर्भ म कोटिकरण कर दिया। इसी प्रकार महिम भट्ट ने भी उसे काव्यानुमिति कह कर तार्किक प्रक्रिया को ही महत्त्व दे दिया। फलत काव्यकला के उक्त महत्त्वपूर्ण पक्षों और प्रश्नों पर विशद विवेचन सम्भव नहीं हो सका। केवल काव्य प्रयोजन काव्यफल आदि के रूप म कुछ उपयोगी सूत्र प्राप्त हो सके।

ध्वनि-सिद्धान्त का सबसे बड़ा योगदान उसकी व्यापकता के अतिरिक्त काव्यकला की 'रचना प्रक्रिया' पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश प्रक्षेपण है। रचना-प्रक्रिया में मुख्य समस्या काव्य (वस्तु या तत्त्व या सत्य अलंकार या बिम्ब

या रस) की अभिव्यक्ति की समस्या है। ध्वनि-सिद्धान्त के पूर्व अभिधा और लक्षणा का आविष्कार हो चुका था किन्तु यदि अभिधा शक्ति को तात्पर्य वृत्ति के रूप म दीर्घदीर्घतर शब्दव्यापार माना जाता तो काव्य कला की सांकेतिकता पूर्णत स्पष्ट नही होती और न यह ज्ञात होता कि काव्य और कला म 'सन्दर्भ' (वक्ता, बोद्ध आदि) क्यो 'महत्वपूर्ण' होते हैं। इन सन्दर्भों की पहचान ध्वनि सिद्धान्त की महती उपलब्धि है। केवल अभिधा शक्ति से यह नही समझाया जा सकता कि कथन विधिरूप है तो उसका अर्थ निषेधरूप क्यो हो जाता है अथवा कथन निषेधरूप है तो ध्वनि विधि-रूप की होती है। लक्षणा से भी यह स्पष्ट नही होता कि कथन अभिधेयार्थ का सर्वथा साथ छोडकर किस प्रकार अपना अस्तित्व प्रमाणित करता है। यथा "गगा मे घर है" इसम 'घर गगा के तट पर है' यह तो लक्षणा से ज्ञात हो जाता है परन्तु गगा के तट पर घर का शैत्य, पावनत्व आदि को लक्ष्यार्थ कैसे मान लिया जाए ? और यदि इसे लक्ष्यार्थ मान भी लिया जाए तो लक्षणा की परिभाषा ही बदलनी होगी। उसे तब मुख्यार्थ से सम्बन्धित न मानकर स्वतन्त्र कहना होगा। अत ध्वनिकार ने व्यञ्जना शब्दशक्ति की कल्पना की जिससे साकेतिकता के सभी रूप स्पष्ट हो सकें। इसी शक्ति के बल पर सभी काव्यो और कलाओ की सकेत शक्ति को समझा जा सकता है और इसी शक्ति को समझ लेने पर कवि और कलाकारो की रचना के क्षणो म 'एक आयामी कला के स्थान पर बहुआयामी' *कला की सृष्टि की प्रक्रिया स्फुरित हो सकती है।* सृष्टि मे 'सपाटता' से बचने का एकमात्र उपाय इस व्यजना शक्ति का बोध ही है। आधुनिक कलाकार की सृजन प्रक्रिया म यह व्यञ्जना शक्ति सर्वाधिक महत्वपूर्ण बन गई है। क्योंकि वह मनुष्य की गूढ चेतना को रूपायित करना चाहता है जो अभिधा या लक्षणा से सम्भव नही है। यो अभिधा से हटते ही लक्षणा म सांकेतिकता अधिक है परन्तु जहाँ सब कुछ धूमिल और अस्पष्ट है, अवसाद और अन्धकार है वृत्त के भी वृत्त हैं और उन्हें काट-काट कर बनने बिगडने वाले बोधवृत्त हैं, अनुभूति-चक्र हैं वहाँ 'परमस्वतन्त्र' व्यजना वृत्ति ही सहायक हो सकती है और छायावादोत्तर काव्य और कला मे सर्वाधिक यही विधि प्रयुक्त हुई है। काव्य केवल शब्दो म सीमा से अधिक अर्थ भरने से ही नही, आडी तिरछी रेखाओं, उन्टे सीधे-विरामो, सम्बोधनों, यतिभग, गतिभग, छन्दभग, प्रवाहभग, आघातों(शॉक ट्रीटमट), प्रसग गर्भत्व,

और कथन की मनमानी चेष्टाओं द्वारा मन की दुरूह स्थितियों की व्यंजना ही नवकाव्य में अधिक हुई है।

किन्तु इस प्रसङ्ग में भी एक आपत्ति यह की गई है कि ध्वनिकार का व्यञ्जनावाद निर्दोष नहीं है। अभिधेयार्थ और व्यंग्यार्थ का सम्बन्ध सन्तोषजनक नहीं है। ध्वनिकार ने व्यञ्जना को अभिधागत या लक्षणागत माना है। यदि ध्वनि का अभिधा से आधेय-आधार सम्बन्ध है अथवा कार्य-कारण सम्बन्ध है अथवा उद्देश्य-साधन सम्बन्ध है तो अभिधा का काव्य पर नियामक प्रभाव होना चाहिए। यदि काव्य ध्वनि है तो अभिधा क्यों आवश्यक है? ऐसा लगता है कि दोनों धारणाओं में विरोध है। एक ओर व्यंग्यार्थ को अभिधेयार्थ पर निर्भर माना गया है तो दूसरी ओर व्यंग्यार्थ को अलौकिक और अतिक्रमित भी माना गया है।[7]

यह आपत्ति निराधार है। क्योंकि "गङ्गायांघोषः" इस कथन में प्रथम "गंगा में आभीर पल्ली है" कथन पर ही ध्यान जाता है। 'गंगा' और 'घोष' शब्द का अर्थ लोक-व्यवहार से निश्चित है किन्तु जब उसी लोक-व्यवहार से निश्चित अर्थ के बल पर अर्थ की सगति नहीं बनती तब लक्षणा से अर्थ लिया जाता है। तब इस कथन में वक्ता का अभिप्राय यह है कि आभीरों का गाँव गङ्गा के प्रवाह में नहीं, उसके निकट ही तट पर है और तब सहसा उस गाँव की शीतलता और पवित्रता स्फुरित होती है। अतः व्यंजना यहाँ लक्षणा पर आधारित है। किन्तु सर्वत्र ऐसा नहीं होता। सन्दर्भ के बल से, अभिधा का सर्वथा तिरस्कार भी होता है। यथा विधिरूप कथन अभिधा में है और व्यंजना निषेध रूप में प्रतीत होती है। जैसे इस प्रसिद्ध उदाहरण में—पण्डित जी महाराज! गोदावरी के किनारे कुञ्ज में रहने वाले मदमत सिंह ने आज उस कुत्ते को मार डाला है, अब आप निश्चिन्त होकर घूमिये।[8] यहाँ कथन विधिरूप है परन्तु व्यंग्यार्थ में उसका सर्वथा तिरस्कार है। अतः व्यंजना में जहाँ अभिधा का सर्वथा अतिक्रमण होता है, वहाँ सन्दर्भ आवश्यक होता है। डॉ० गुप्ता ने इस सन्दर्भ पर विचार ही नहीं किया।

7. ध्वन्यालोक—पृ० 14
8. टुवार्ड्स ए थ्योरी आफ इमेजिनेशन—एस० सी० सेन गुप्त—पृ० 189-190

शब्दशक्ति प्रसग में एक सुझाव यह अवश्य हो सकता है कि तीन की जगह दो शब्दशक्तियाँ मानी जा सकती हैं—प्रथम अभिधा और द्वितीय व्यंजना। लक्षणा की जो मध्यस्थिति है उसे छोडा जा सकता है। परन्तु यदि लक्षणा की स्वीकृत परिभाषा यही हो कि मुख्यार्थ म बाधा पडे और साथ ही अर्थग्रहण में मुख्यार्थ से सम्बन्ध भी रहे तो कोई उपाय नहीं प्रतीत होता। वस्तुत लक्षणा की प्रचलित परिभाषा से सभी सकेतित अर्थों को ग्रहण करने मे बाधा पडने के कारण ही ध्वनिकार को तृतीय शक्ति-व्यंजना की कल्पना करनी पडी थी।

एक अन्य आपत्ति यह है ध्वनि-सिद्धान्त अन्य भारतीय सिद्धान्तों की तरह "कवि के व्यक्तित्व" को ध्यान में रखकर विचार नहीं करता।[9] यह आपत्ति वास्तविक है। यद्यपि ध्वनिकार न कवि की 'प्रतिभा' पर बहुत बल दिया है परन्तु कवि की दृष्टि से वस्तुत विवेचन यहा हो ही नहीं सका। वास्तविकता तो यह है कि व्यक्तित्व को पूर्ण महत्व यूरोप म स्वच्छन्दतावादी युग मे ही प्राप्त हो सका। हिन्दी में भी 'व्यक्तित्व' का योगदान छायावादी युग मे ही स्वीकृत हो सका।

डॉ० एस० के० डे का कथन है कि ध्वनि सिद्धात यह कह कर बहुत बडी सेवा करता है कि काव्य और कला में अभिधेय अर्थ ही पर्याप्त नहीं होता और यह कि काव्य म अर्थ ध्वनित होना चाहिए। किन्तु ध्वनिवादियों का विवेचन बौद्धिक अधिक है अन्तर्दृष्टि कम क्योंकि ध्वनिवादी विचारों को एक व्यावहारिक तथ्य के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इस तरह ध्वनिवाद सौन्दर्यशास्त्र से 'तर्क' मे परिणत होने लगता है। उनका यह भी कथन है कि सस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्य यह भूल जाते हैं कि काव्य-भाषा स्वय प्रकाश ज्ञानात्मक होती हैं, बौद्धिक नहीं। यह सौंदर्यबोधात्मक होती है बुद्धिजन्य नहीं। इसलिए कथित और व्यजित का पडिताऊ विभाजन एक व्यर्थ धारणा है जो व्याकरण तथा तर्क का क्षेत्र है।[10]

डा० डे की आपत्ति म बल है किन्तु इस सन्दर्भ म यह भी स्मरणीय है कि अधिक अन्तर्दृष्टिपरक होने से आधुनिक सौंदर्यशास्त्रीय-मीमासाए व्यक्तिपरक (सब्जेक्टिव) अधिक हो जाती हैं। फिर ध्वनिवाद के प्रयोग के

9 टूवार्ड्स द थ्योरी आफ इमेजिनेशन—सेन—गुप्ता—पृ० 193
10 सस्कृत पोयटिक्स एज ए स्टडी आफ ईस्थेटिक्स—पृ० 9-10

समय अन्तर्दृष्टिपरक विधि का प्रयोग हम कर सकते हैं। वस्तुत. ये दोनों विधियाँ एक दूसरे की पूरक हैं।

कृष्णचैतन्य ने आपत्ति की है कि यदि भाव या रस प्रमुख है तो व्यंजना को सर्वत्र अपरिवर्तित तत्त्वांत्र क्यों स्वीकार किया गया है।[11] इसका स्पष्ट उत्तर तो यही है कि काव्य तथ्य-कथनात्मक नहीं है, वह वस्तु, बिम्ब, और संकेतों, संवेदनाओं का कल्पनापूर्ण कथन है और सृजनात्मक कल्पना तथ्यों, विचारों, भावादि को व्यंजना की विधि के द्वारा ही व्यक्त कर सकती है अन्यथा 'वह प्रेम करता है राम ने रावण को मारा' आदि कथन भी काव्य हो जाएंगे।

व्यंजित बिम्ब ही कलापूर्ण होता है, कथित बिम्ब नहीं, ध्वनिकार का यह कथन भी कृष्ण चैतन्य नहीं मानते।[12] किन्तु ध्वनिकार भी पिष्टपेषित और असंश्लिष्ट बिम्बों (अलंकारों) की प्रभावहीनता नहीं मानते थे। हम सभी इस तथ्य का अनुभव करते हैं कि 'मुखचन्द्र' या 'नरव्याघ्र' कहते ही पिष्टपेषण पर ध्यान जाता है और कवि के प्रति क्रोध जगता है। किन्तु पिष्टपेषित बिम्ब भी ध्वनित होकर आकर्षक बन सकते हैं। इस तथ्य पर ध्वनिकार ने बल दिया है क्योंकि कथन की सूक्ष्मता से पुराने बिम्ब नया आकर्षण पा जाते हैं।[13] इसके अतिरिक्त भामह-दण्डी के अलंकार विधान में जो उक्ति-चमत्कारों का रूढ़िगत प्रयोग होने लगा था उसके स्थान पर बिम्बविधान में सूक्ष्मतर विधि की ओर ध्वनिकार ने ध्यान आकर्षित किया था। इसके अतिरिक्त व्यंजित बिम्बों में केवल वस्तु का सादृश्य ही नहीं होता, "कुछ और" भी होता है। मुख में लावण्य की भाँति यह आकर्षण उपमा-रूपकों के स्थूल प्रयोगों में नहीं मिल सकता। वस्तुत व्यंजित बिम्बविधान द्वारा वस्तु वास्तविकता की संश्लिष्टता की ओर ध्वनिकार हमें प्रेरित करते हैं। एजरापौंड के बिम्बविधान में तथा मेटार्लिंक के बिम्बविधान में भी[14] हम ध्वनिकार की बिम्ब-व्यंजनाविधि की सार्थकता देख सकते हैं। डॉ० जगदीश गुप्त के 'हिमविद्ध' में भी यही विधि है। वस्तुत अलंकार बिम्ब

11. संस्कृत पोएटिक्स — ए क्रिटिकल एण्ड कम्पेरेटिव स्टडी—पृ० 158
12. वही—पृ० 153
13. ध्वन्यालोक—पृ० 336
14. टी० एस० इलियट—सं० के० गवन—पृ० 114

तभी बनता है जब उसमें मार्वेनिकता आती है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने व्यंजनावाद के विरोध में लिखा है कि काव्यत्व का अधिवास वाच्यार्थ में होता है व्यंग्यार्थ में नहीं। इसका युक्ति-युक्त खंडन पं० रामदहिन मिश्र तथा डा० नगेन्द्र ने कर दिया है।[15] यह स्पष्ट है कि काव्यत्व का अधिवास व्यंजना विधि द्वारा प्राप्त व्यंग्यार्थ में होता है। कला व्यंजनामय वचनप्रक्रिया में होती है और उससे जो व्यंग्यार्थ प्राप्त होता है उसी में काव्य का अधिवास मानना चाहिए।

ध्वनि-सिद्धान्त की व्यापकता और रचनाप्रक्रिया की दृष्टि से इसकी सार्थकता का बोध पाश्चात्य आचार्यों को भी हुआ था।[16] किन्तु इनमें एबरक्रोम्बी[17] तथा टिल्यार्ड[18] ने स्पष्टतः ध्वनि सिद्धान्त का अपने ढंग से समर्थन किया है। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य साहित्यशास्त्रियों ने अलंकारों के वर्णन में व्यंजना को प्रकारान्तर से स्वीकार किया है यथा आयरनी, इलुएण्डों यूफ्यूमिज्म आदि में।

ध्वनि सिद्धान्त के महत्त्व तथा व्यापकता को स्वीकार करते हुए भी डॉ० नगेन्द्र रससिद्धान्त से उसे अधिक मान्यता नहीं देना चाहते। यदि रस-सिद्धान्त से ध्वनि सिद्धान्त अधिक व्यापक है और यदि वह व्यंजना विधि द्वारा सृजनप्रक्रिया पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है तो ध्वनि सिद्धान्त को रससिद्धान्त से व्यापक तथा श्रेष्ठ मानना चाहिए। ध्वनिकार ने भी 'रस-ध्वनि' को श्रेष्ठ मानकर भी रससिद्धान्त को श्रेष्ठ नहीं माना। डॉ० नगेन्द्र इस समस्या को दूसरा ही रूप देते हैं। वह प्रश्न करते हैं कि काव्य की आत्मा रस है या ध्वनि? इनका कथन है कि अन्ततोगत्वा रस और ध्वनि में कोई अन्तर नहीं रह गया था। यों तो आनन्दवर्द्धन ने ही रस को ध्वनि का अनिवार्य तत्त्व माना था, पर अभिनव ने इसको और भी स्पष्ट करते हुए रस और ध्वनि को एक रूप कर दिया।[19]

15 ध्वन्यालोक—भूमिका—पृ० 10-13
16 इस निबन्ध से पूर्व ही पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में 'ध्वनि' के निबन्ध में पाश्चात्य आचार्यों के विचार प्रस्तुत किए गए हैं।
17. प्रिंसिपल्स आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म—पृ० 40
18 पोएट्री-डायरेक्ट एण्ड आब्लीक—पृ० 16-24
19 ध्वन्यालोक—भूमिका—पृ० 32

परन्तु डॉ० नगेन्द्र को यह स्वीकार करना पड़ा कि विश्वनाथ रस और ध्वनि को एक मानकर नहीं चले और पण्डितराज जगन्नाथ भी उन्हें अलग अलग मानते हैं। डा० नगेन्द्र का कथन है—ध्वनि रस के बिना काव्य नहीं बन सकती और रस ध्वनित हुए बिना कवत व यत होकर काव्य नहीं हो सकता अतएव दोनों की अनिवार्यता असंदिग्ध है परन्तु प्रश्न सापेक्षिक महत्व का है। विधि और तत्त्व दोनों का ही महत्व है। परन्तु फिर भी तत्त्व तत्त्व ही है। रस और ध्वनि में तत्त्व पद का अधिकारी कौन है ? इसका निश्चित उत्तर है रस। रस और ध्वनि दोनों में रस ही महत्वपूर्ण है उसी के कारण ध्वनि में रमणीयता आती है। पर रस को व्यापक अर्थों में ग्रहण करना चाहिए। रस को मूलतः परम्परागत संकीर्ण विभावानुभावव्यभिचारी के संयोग से निष्पन्न रस के अर्थ में ग्रहण करना संगत नहीं। रस के अन्तर्गत समस्त भावविभूति अथवा अनुभूति वैभव आ जाता है। इस प्रकार रस और ध्वनि का प्रतिद्वन्द्व अनुभूति और कल्पना का ही प्रतिद्वन्द्व ठहराता है अनुभूति और कल्पना में अनुभूति ही अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि काव्य का सम्वेद्य यही है। इसीलिए प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक आलोचक रिचर्ड्स ने प्रत्येक कविता को मूलतः एक प्रकार की अनुभूति ही माना है। और वैसे भी 'रसो वै सः' रस तो जीवन चेतना का प्राण है—काव्य के क्षेत्र में या अन्यत्र उसको अपने पद से कौन च्युत कर सकता है ? ध्वनि सिद्धान्त का सबसे महत्वपूर्ण योग यह रहा कि उसने जीवन के प्रत्यक्ष रस और काव्य के भावित रस के बीच का अन्तर स्पष्ट कर दिया।"[20]

इस उद्धरण से प्रथम तो यह स्पष्ट हो गया कि डॉ० नगेन्द्र रसास्वाद के पुरातन शास्त्रीय रूप को संकीर्ण मानते [redacted] अर्थात् पुरातन रसवाद के आधार पर आधुनिक साहित्य और कला का परीक्षण नहीं हो सकता जबकि ध्वनि सिद्धान्त संकीर्ण न होने के कारण और व्यंजनावृत्ति के रूप में 'कल्पना' की अनिवार्यता स्वीकार करने के कारण कालजयी सिद्धान्त प्रमाणित हुआ। द्वितीय यह तथ्य स्पष्ट हुआ कि रस का अर्थ सम्पूर्ण अनुभूति चक्र है जिसमें सम्वेग भी सम्मिलित है। किन्तु ध्वनि सिद्धान्त यह कहीं नहीं कहता कि काव्यमात्र या कलामात्र के मूल में भाव का अभाव रहता है।

20 रसालोक—भूमिका—पृ० 32-33

वस्तु व्यंजना, अलंकार व्यंजना और भाव रस-व्यंजना का विभाजन "प्रधानता" के आधार पर है। यह सत्य है कि काव्य मात्र के मूल में वास्तविकता का 'बोध' भी रहता है, तब क्या 'वास्तविकता के बोध" को 'तत्व' होने के कारण विधि या ध्वनि से अधिक महत्त्व दिया जाय? डा॰ नगेन्द्र पहले लिख चुके हैं कि काव्य का आनन्द एक मिश्र आनन्द होता है, उसमें वासनाजन्य आनन्द और बौद्धिक आनन्द (वास्तविकता-बोध) दोनों का समन्वय रहता है।[21] तब 'तत्व' केवल वासना या राग या भाव नहीं है, बोध भी 'तत्व' है। जिसे प्रकारान्तर से ध्वनिकार 'वस्तुव्यंजना' में शामिल करते प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त ध्वनिकार व्यंजित तत्वों में बिम्ब या अलंकार को भी मानते हैं। अतः तत्व तीन हुए—बोध, भाव और बिम्ब। ये तीनों तत्व ध्वनित होकर ही कला रूप धारण करते हैं, कथित होकर नहीं। अतएव 'रस' शब्द या 'अनुभूति' शब्द के प्रति डॉ॰ नगेन्द्र का आग्रह एकांगी है। अभिव्यंग्य 'तत्व' यदि केवल रस होता तब तो ध्वनिकार को ध्वनियों के तीन रूप मानने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। ध्वनिकार को अभिव्यंग्य तत्वों की अनेकरूपता का ज्ञान था और इस अनेकरूपता का ज्ञान डॉ॰ नगेन्द्र को भी है परन्तु वे उनमें 'रस' को ही सर्वाधिक महत्व देते हैं जो उनकी व्यक्तिगत रुचि का प्रश्न हो सकता है उसी प्रकार जिस प्रकार ध्वनिकार ने तीन तत्वों में से 'रसध्वनि' को ही श्रेष्ठ स्वीकार किया था। अतः स्वयं ध्वनिकार की साक्षी से केवल रस तत्व या अनुभूति तत्व का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता।

यह सत्य है कि छठी शताब्दी तक रस प्रधान काव्य की ओर रुचि अधिक थी फिर भी कल्पना-कौशल-प्रधान और अलङ्कृत काव्य की ओर रुचि उन्मुख हुई। इसके अतिरिक्त वस्तु और विचार प्रधान काव्य भी सामने थे। ध्वनिकार ने इन तीनों प्रकार के काव्यों को तीन ध्वनियों में सम्मिलित कर लिया। अलंकारयुग में स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति, और रसोक्ति में द्वन्द्व था। ध्वनिवाद में उसे समाप्त कर दिया गया। यही ध्वनिकार की उपलब्धि थी। इससे लाभ यह हुआ कि आधुनिक काव्य के सभी रूपों को ध्वनिकार के आधार पर आलोचित करना सम्भव हो गया अन्यथा प्राचीन रस प्रधान काव्य पर आधारित 'रसवाद' की दृष्टि से अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-

21. वही,—भूमिका—पृ॰ 9

ध्वनिप्रधान काव्य को बहिष्कृत करना पडता और आज भी परम्परागत रुचि के आचार्य आधुनिक काव्य को काव्य नही मानते।

अतएव पुराने रसवाद की सकीर्णता स्पष्टत प्रमाणित है और साथ ही डॉ० नगेन्द्र की युक्तियों से भी यह प्रमाणित नही होता कि ध्वनि सिद्धान्त सार्वकालिक महत्त्व का सिद्धान्त नही है। यह विवादास्पद हो सकता है कि काव्य और जीवन का 'सर्वस्व' केवल रस है। परन्तु काव्य और कला का सर्वस्व सृजन-प्रक्रिया की दृष्टि से 'ध्वनि' ही है, रस नही। हॉं, अभिव्यग्य की दृष्टि से 'भाव' महत्त्वपूर्ण है परन्तु 'व्यंग्य' और 'वस्तु' भी कम महत्त्वपूर्ण नही।

13

आई. ए. रिचर्ड्स और ध्वनि सिद्धान्त

डा० शान्ति स्वरूप गुप्त

शब्द और अर्थ के संयोग से भाषा बनती है और जब उसमें चारुता संस्पर्श होता है, तब काव्य का आविर्भाव होता है। वाणी और अर्थ की अभिन्नता को यदि महाकवि कालिदास ने निम्न शब्दों में अभिव्यक्त किया—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

तो दंडी, भामह, वामन, कुन्तक, जगन्नाथ आदि आचार्यों ने भी शब्द और अर्थ के चारुत्वपूर्ण सम्मिलन को काव्य की संज्ञा दी। ध्वनिवादी आचार्यों—आनन्दवर्धन आदि ने शब्द-शक्ति के माध्यम से काव्य-सौन्दर्य की व्याख्या की। अभिधा, लक्षणा आदि पर विचार करने के उपरान्त उन्होंने ध्वनि को ही काव्य की आत्मा और व्यंग्यार्थ को ही काव्य को विशिष्ट हेतु बनाया। पश्चिम में भी शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा बहुत पहले से होती रही है। पाश्चात्य विद्वान् व्यंजना जैसी शब्द-शक्ति को भले ही न मानते रहे हों पर व्यंग्यार्थ को अवश्य मानते हैं। पाश्चात्यों के 'एम्बुजन', 'डबल सेन्स', 'आइरनी' 'एलेगरी', 'मेटाफर', 'सो नेक्डोन' को व्यंग्यार्थ का एक रूप माना जा सकता है। आधुनिक युग में शब्द, उसकी विभिन्न शक्तियों तथा उपकरण से अर्थ-भेद के आधार पर काव्य का अध्ययन और विवेचन विशेष रूप से हुआ

है। यूरोप और अमरीका के विद्वानों ने शब्द और अर्थ के स्वरूप, उनके भेद प्रभेद और उनके विभिन्न प्रयोगों पर विचार करने के उपरान्त अनेक बहुमूल्य और महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं। ऐसे मनीषियों में आई०ए० रिचर्ड्स का नाम सर्वोपरि है।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने ध्वनि की निम्नलिखित परिभाषा दी है—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥

अर्थात् जहां [वाच्य] शब्द तथा [वाच्य] अर्थ अपनी सत्ता को गौण कर उस [प्रतीयमान] अर्थ को प्रकाशित करते हैं उस काव्य-विशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है। काव्य में इस प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति के कारणभूत व्यापार को व्यंजना शब्द-शक्ति कहा गया है। व्यंजना शब्द के साक्षात् संकेत से परे किसी अन्य अर्थ को बोध कराती है। परिस्थिति, विषय आदि में निहित किसी अद्वितीय एवं चमत्कारपूर्ण प्रभाव को अभिव्यक्त करना ही व्यंजना व्यापार का ध्येय है।

पश्चिम में भी प्राचीन आचार्यों ने वाच्यार्थ से भिन्न सूक्ष्म अर्थ की चर्चा की है। सत्रहवीं अठारवीं शताब्दी में वहां विट (Wit) की व्याख्या वाणी के चारुत्व के रूप में की गयी थी। परन्तु इसका सूक्ष्म तथा मनोवैज्ञानिक विवेचन आधुनिक युग में ही हुआ है। यदि रिचर्ड्स ने 'इमोटिव मीनींग', 'कानटेक्स्ट्युअल मीनिंग' आदि द्वारा तो लीविस, टिलयर्ड आदि ने 'आब्लीक मीनिंग' द्वारा व्यंजना व्यापार की ओर संकेत किया है। रिचर्ड्स ने निम्न शब्दों में व्यंजना का ही महिमा गान किया है—

Not only the actual words but the association determines the sense in poetry When this happens the statements which appear in the poetry are there for the sake of their effects upon feelings, not for their own sake

ध्वनिवादी आचार्य एवं आज के मनोवैज्ञानिक दोनों मानते हैं कि कविता द्वारा कवि अपनी रागात्मक अनुभूति को सहृदय के प्रति संवेद्य बनाता है और पाठक के हृदय में कविता पढ़ते समय मात्र अर्थ-बोध ही नहीं होता, कवि—जैसी रागात्मक अनुभूति का संचार भी होता है। कवि अपने हृदय-रस को सहृदय के लिए संवेद्य बनाता है, भाषा के द्वारा।

पर वह भाषा का साधारण प्रयोग न कर उनका इस प्रकार प्रयोग करता है कि पाठक कवि-हृदय-स्थित अनुभूति में अवगाहन कर सके। रिचर्ड्स ने भी भाषा के दो प्रयोग माने हैं—(1) वैज्ञानिक या अभ्युद्देशनात्मक (Scientific or Referential) (2) रागात्मक (Emotive)। वैज्ञानिक प्रयोग किसी वस्तु या तथ्य का बोध कराने के लिए होता है तो रागात्मक प्रयोग भाव जगाने के लिए। A statement may be used for the sake of reference true or false, which it causes This is the scientific use of language But it may also be used for the sake of effects in emotion and attitude produced by the reference it occasions This is the emotive use of language[1] अपनी एक अन्य रचना 'Science and Poetry' में उन्होंने कहा है कि विज्ञान यदि कथन (Statement) का आश्रय लेता है तो कविता में Pseudo-statements (छद्म-कथन) की प्रमुखता रहती है। छद्म-कथन को समझाते हुए वह लिखते हैं "A pseudo-statement is a form of words which is justified entirely by its effect in releasing or organizing our impulses and attitudes" अपने ग्रंथ 'Practical Criticism' में भी उन्होंने भाषा के इन दो प्रयोगों की ओर संकेत किया है, "In handling the piles of material supplied by the protocols, I shall keep the term statement for those utterances whose meaning in the sense of what they say or purport to say, is the prime object of interest. I shall resume the term expression for those utterances where it is the mental operations of the writers which are to be considered." रिचर्ड्स के अनुसार statement (उक्ति) वह है जिसमें वक्ता के कथ्य का अर्थ-बोध ही चरम महत्त्व का होता है और expression (अभिव्यंजना) वह है जिसमें वक्ता का मनोव्यापार महत्त्वपूर्ण बन जाता है। स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में उक्तिप्रधान शास्त्र तो शब्दप्रधान होता है और काव्य में शब्द अपने वाच्यार्थ से व्यतिरिक्तता को प्राप्त होता

1. I A Richards, Principles of Literary Criticism, p. 267.

है। "हिमालय भारत के उत्तर में स्थित है" यह वाक्य भाषा के वैज्ञानिक प्रयोग का उदाहरण है। इसमें अभ्युद्देशन (reference) ही उद्दिष्ट है, किसी संवेग (emotion) या अभिवृत्ति (attitude) को जगाना नहीं। कामायनी की निम्न पंक्तियों को लीजिए—

नीचे जल था ऊपर हिम था
एक तरल था एक सघन
एक तत्त्व की ही प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन

प्रथम दो पंक्तियों में भाषा अभ्युद्देशनात्मक प्रयोग है तो अन्तिम दो पंक्तियों में रागात्मक प्रयोग क्योंकि प्रथम में कवि मनु की स्थिति का बोध मात्र कराता है पर अन्तिम दो पंक्तियों में वह पाठक में अभिवृत्ति जगाना चाहता है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रिचर्ड्स के अनुसार भाषा का प्रयोग दो उद्देश्यों से किया जाता है—सूचना देने के लिए तथा संवेग या अभिवृत्ति जगाने के लिए। पहले को वह भाषा का वैज्ञानिक अभ्युद्देशनात्मक प्रयोग कहता है और दूसरे को रागात्मक। ध्वनिवादी आचार्यों ने इन्हीं को क्रमश: वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ कहा है। वाच्यार्थ का कार्य वस्तु की प्रतीति कराना मात्र है जबकि व्यंग्यार्थ का उद्देश्य पाठक के भावों और संवेग को जगाना है।

अर्थ के सम्बन्ध में रिचर्ड्स ने विस्तार से विचार किया है। उन्होंने मुख्य रूप से चार प्रकार के अर्थ का उल्लेख किया है—(1) सेन्स (अभिधेयार्थ) (2) फीलिंग (भावना) (3) टोन (पाठक के प्रति वक्ता की अभिवृत्ति) (4) इन्टेन्शन (उद्देश्य)। सेन्स से उनका प्रयोजन वही है जो भारतीय आचार्यों का अभिधेयार्थ से है। किसी शब्द या वाक्यांश में जब किसी पदार्थ या तथ्य का सामान्य बोध होता है, तब अभिधा शक्ति अपना कार्य करती है। जब वक्ता सरल, सुबोध और यथातथ्य अभिव्यक्त करना चाहता है तब वह इसी शब्द शक्ति का प्रयोग करता है। उसके कथन में सेन्स की प्रधानता होती है। (2) फीलिंग से रागात्मक अर्थ (emotive meaning) का आविर्भाव होता है। कवि की अभिव्यक्ति में केवल सूचना अथवा तत्त्व-कथन अभिप्रेत नहीं होता, वह लेखक की भावनात्मक प्रतिक्रियाओं से अनुरंजित रहती है। "We have an attitude towards it...some personal flavour or colouring

of feeling, and we use language to express these feelings, this nuance of interest."[2] (3) अब टोन को लीजिए। वक्ता अथवा लेखक का श्रोता या पाठक के प्रति भी एक प्रकार का दृष्टिकोण अथवा रुख रहता है। उसका यह दृष्टिकोण विद्रोहपूर्ण भी हो सकता है, सहानुभूतिपूर्ण भी हो सकता है और तटस्थ भी। उसका यही दृष्टिकोण कभी-कभी अर्थ के स्वरूप निर्धारण का आधार बनाता है क्योंकि वह श्रोता के अनुसार वाक्य का विन्यास करता है He chooses or arranges his words differently as his audience varies."[3] (4) लेखक किसी न किसी उद्देश्य से चाहे वह चेतन हो अथवा अचेतन, अपनी बात कहता है। यह उद्देश्य तथ्य निरूपण, प्रभावोत्पादन, सिद्धान्त-प्रचार आदि में से कोई भी हो सकता है। उद्देश्य से अर्थ का सीधा सम्बन्ध है। रिचर्ड्स के अनुसार काव्य में सैन्स को छोड़कर शेष तीन अर्थों का सद्भाव रहता है "...the total meaning we are engaged with is almost always a blend, a combination of several contributory meanings of different types Language and pre-eminently language as it is used in poetry—has not one but several tasks to perform simultaneously."[4] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'सैन्स' से रिचर्ड्स का अभिप्राय भारतीय काव्य-शास्त्र के 'वाच्यार्थ' से है और फीलिंग, टोन तथा इन्टेन्शन किसी न किसी रूप में व्यंग्यार्थ के अन्तर्गत आएंगे।

रिचर्ड्स ने प्रसंग (context) के महत्त्व पर विस्तारपूर्वक विचार किया है और कहा है कि सम्यक् अर्थावबोध के लिए प्रसंग का ज्ञान आवश्यक है। वाक्य में प्रत्येक शब्द दूसरे शब्दों से निबद्ध होता है और ये शब्द एक-दूसरे को अनुप्राणित करते रहते हैं। एक ओर समग्र उक्ति का संदर्भ इन शब्दों को प्रभावित कर विशेष अर्थ से सम्पन्न करता है और दूसरी ओर ये शब्द भी अन्य संदर्भों से प्राप्त अर्थों के द्वारा इस

2 I. A. Richards, Practical Criticism, p 181
3. वहीं, पृ॰ 182
4. वहीं, पृ॰ 180

सन्दर्भ को सूक्ष्म-जटिल अर्थवत्ता प्रदान करते हैं। शब्दों का यह कुशल प्रयोग अतिशय अर्थ की व्यंजना तथा समग्र वाक्यार्थ के चमत्कार की सिद्धि में योगदान करता है। साहित्य में प्रयुक्त शब्दों के द्वारा सुबुद्ध पाठक के मन में जो स्मृतियाँ जाग्रत होती हैं उसका प्रधान कारण यह प्रसंग ही होता है। समृद्ध काव्य भाषा में ये सभी प्रसंग परस्पर गुम्फित रहते हैं। भारतीय काव्य-शास्त्र के व्यंजना निरूपण में भी प्रसंग को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। भारतीय मत यह है कि कौन वक्ता किस परिस्थिति में क्या बात कह रहा है, इसका ज्ञान होने पर ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। रिचर्ड्स पाठक और लेखक की मनोदशा के अतिरिक्त 'प्रयोजन' (Intention) की बात भी कहते हैं जो अत्यन्त मनोवैज्ञानिक है। शब्दों के एक दूसरे के साथ निबद्ध होने और एक दूसरे को अनुप्रमाणित करने की बात रिचर्ड्स की अपनी उद्भावना जान पड़ती है। रिचर्ड्स शब्द-भंडार पर इतना बल नहीं देते जितना शब्दों के कुशल प्रयोग पर, In his theory it is not the extension vocabulary at the poet's command but the amazing command of words which is the true characteristic of the poet The poet has a special ability in disposing and arranging the words."[5] उनके अनुसार शब्दों का कोई निजी आन्तरिक साहित्यिक मूल्य नहीं होता। कोई शब्द अपने आप में न सुन्दर होता है, न कुरूप। शब्द का प्रभाव उसके प्रयोग की स्थिति पर, सहवर्ती शब्दों पर निर्भर करता है। वह शब्द के अर्थ की व्याख्या प्रत्यायुक्त प्रभावोत्पादक (Delegated efficacy) के रूप में करते हैं। उनका कथन है कि शब्द के अर्थ में उन तत्त्वों का भी सद्भाव रहता है जो तत्काल उपस्थित नहीं रहते। ये तत्त्व प्रसंग के कारण ही संभव हैं। अतीत में जिन प्रसंगों से वे शब्द सम्बद्ध रहे हैं, उनका प्रभाव और शक्ति वे वर्तमान प्रसंग को प्रदान करते हैं। यह सच है कि ध्वनि-सिद्धान्त में भी प्रसंग को महत्त्व प्राप्त है, पर प्रसंग के सम्बन्ध में रिचर्ड्स का विवेचन अधिक सूक्ष्म, गहन और मनोवैज्ञानिक है।

रिचर्ड्स ने अपने काव्य-सिद्धान्तों के अन्तर्गत एक अन्य तत्त्व पर

5 A.G. George, *Criticism & Critics*, p 163

भी प्रकाश डाला है, वह है *Ambiguity* एम्बिगुइटी का मूल शब्दार्थ है द्वि-अर्थता और फिर इसका अर्थ विस्तार हो गया है संदिग्धार्थता एवं अनेकार्थता में। रिचर्ड्स ने इस शब्द का अर्थ संदिग्धार्थता न लेकर अनेकार्थता लिया है। अत वह एम्बिगुइटी को काव्य का दोष न मानकर उसका गुण मानते हैं क्योंकि उससे पाठक को काव्य में दोहरे-तिहरे अर्थ की प्रतीति होती है। वह तो अर्थों के द्वन्द्व को काव्य-भाषा का अनिवार्य और चमत्कारपूर्ण तत्त्व मानते हैं। उससे भाषा में अनेक सूक्ष्म प्रभाव (न्यूयेन्सेस) उत्पन्न होते हैं। अनेक अभिप्रायों का कौशलपूर्ण गुम्फन होता है। उससे भाषा में अर्थ-सम्बन्धी लोच (suppleness) आता है। यदि भाषा में अर्थ का यह लोच न रहे तो उसकी सूक्ष्मता समाप्त हो जाती है, "Language losing its subtlety with its suppleness, would base its power to nuances"[6] काव्य-मूल्य की दृष्टि से भी वह निश्चयात्मक कथन का विरोध करते हैं क्योंकि निश्चयात्मक कथन भावों में पर्याप्त मात्रा तक दमन लाता है जो अनुभव की पूर्णता और अखण्डता के लिए घातक सिद्ध होता है। अत अनुभव की पूर्णता के लिए अम्युदेशन से मुक्ति आवश्यक है और इसके लिए निश्चयात्मक उक्ति के स्थान पर अनेकार्थक अर्थों का द्वन्द्व आवश्यक है। रिचर्ड्स के काव्य-सिद्धान्त को तनाव का काव्य-सिद्धान्त (Poetry of tension) कहा गया गया है। भारतीय आचार्यों ने भी शब्द-अर्थ, वाच्यार्थ-व्यंग्यार्थ, उत्पन्न और अनुत्पन्न अर्थ की परस्पर स्पर्धा में काव्य-चमत्कार की अवस्थिति मानी है। रिचर्ड्स अलकार को काव्य का बाह्य तत्त्व नहीं मानते। उन्हें इस बात पर रोष है कि बहुत दिनों से अलकार अभिव्यंजना का बहिरंग उपादान माना जाता रहा है। Thoughout the history of Rhetoric, metaphor has been treated as a sort of happy extra trick with words, an opportunity to exploit the accidents of their versatility, something in place occasionally but requiring unusual skill and caution. In brief a grace or ornament or added power of language constitutes its

6. I A. Richards, The Philosophy of Rhetoric, p 73.

form"[7] उनकी दृष्टि में अलंकार काव्य का अपरिहार्य तत्त्व है। रिचर्ड्स ने रूपक (metaphor) के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि रूपक में दो या दो से अधिक पक्षों का समावेश होने के कारण थोड़े में बहुत कहा जा सकता है, उसके द्वारा बहुत से तत्त्व अनुभव-क्षेत्र में आ जाते हैं। सूचना, भाव, संकेत इत्यादि घनीभूत होकर रूपक में विद्यमान रहते हैं। और, इस भांति अर्थ के कई स्तर और पक्ष उसमें बीज रूप में निहित रहते हैं। इसी में रूपक की सार्थकता है। "Metaphor is a semi surreptitous method by which a greater variety of elements can be wrought into the fabric of the experience"[8] स्पष्ट है कि रिचर्ड्स रूपक को बाह्य अलंकार मात्र नहीं मानते, उसमें व्यंजना के भी अनेक तत्त्व निहित हैं जैसे भाव, सूचना, इंगित इत्यादि। यही कारण है कि इस प्रसंग में वह (semi surreptitous method) का प्रयोग करता है जिसका अभिप्राय है लाक्षणिकता की अधगूढ़ प्रणाली। उनकी यह शब्दावली रूपक, अलंकार की अपेक्षा व्यंजना-व्यापार के अधिक निकट है। लाक्षणिकता की अधगूढ़ प्रणाली तथा रूपक में अर्थ के कई स्तर मानकर रिचर्ड्स ध्वनि सिद्धान्त के व्यंग्य की ओर ही संकेत करते प्रतीत होते हैं। अतः अलंकार-सम्बन्धी दृष्टिकोण में रिचर्ड्स और ध्वनिवादियों में पर्याप्त साम्य है।

रिचर्ड्स ने काव्यानुभूति की प्रक्रिया में छः सस्थान माने हैं— (1) शब्द को पढ़कर या सुनकर उत्पन्न होने वाले चाक्षुष या श्रौत्र (Visual sensations) (2) चाक्षुष संवेदना से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध बिम्ब (3) अपेक्षाकृत स्वतन्त्र बिम्ब (4) विविध वस्तुओं का अभ्युद्देशन अथवा उनका चिन्तन (5) संवेग (emotions) तथा (6) रागात्मक अभिवृत्ति (Affective Volitional attitudes)। काव्य को पढ़ते समय पहले चाक्षुष संवेदन उत्पन्न होते हैं। उसके बाद उनसे सम्बद्ध वाक् चित्र (verbal images) उपस्थित होते हैं। और आगे चलकर स्वतन्त्र बिम्ब, फिर अभ्युद्देशन, और फिर भाव और अन्त में विशिष्ट रागात्मक

7 I A Richards The Philosophy of Rhetoric p 90 (*Paper back editorial*)

8. I A Richards, Principles of Literary Criticism p 240

अभिवृत्ति का निर्माण होता है। यदि इनमें से प्रथम दो का सम्बन्ध शब्द अथवा वर्ण-ध्वनि से है तो शेष चार का अर्थ से। यहां यह स्मरणीय है कि रिचर्ड्स कविता का मूल्य बिम्ब के चटकीलेपन, सजीवता, स्पष्टता पर नहीं अपितु संवेदना के साथ बिम्ब के सम्बन्ध पर निर्भर मानते हैं। बिम्ब का महत्त्व इसलिए है कि वे आवेगों को द्वारा प्रभावित कर अभिवृत्ति का निर्माण करते हैं। वह बिम्ब-बोध को काव्यानुभूति के लिए अनिवार्य नहीं मानते। साथ ही उन्हें यह भी मान्य नहीं कि सभी संवेदनशील पाठकों को समान बिम्ब-बोध होता है।

रिचर्ड्स आनन्द या आह्लाद को काव्य का प्रयोजन नहीं मानते। अत्यधिक आनन्द और आह्लाद के क्षण भी मूल्यहीन हो सकते हैं। अतः चेतन अनुभूति को मूल्यवान् बनाने के लिए आवेगों की व्यवस्था आवश्यक होती है, उदात्त अभिवृत्ति का निर्माण जरूरी है। अनुभूति के बाद मन में किसी विशिष्ट प्रकार के व्यवहार के लिए जो तत्परता या सन्नद्धता होती है उसी में उसका मूल्य निहित है। अतः कला से उत्पन्न क्षणस्थायी चेतना के गुणों पर अधिक बल देना भूल है। देखना यह चाहिए कि कलाकृति मानव सम्भावनाओं का कहां तक विस्तार कर पाती है, मानवीय संवेदनाओं के क्षेत्र को कहां तक व्यापक बना पाती है। अतः कविता का मूल्य चमत्कार या चमत्कार-जन्य आह्लाद पर नहीं अभिवृत्तियों के निर्माण पर निर्भर करता है। इसीलिए रिचर्ड्स ने कहा है," This poetry cannot be written by cunning and study or by craft and contrivance because the ordering of words springs not from the knowledge of the technique of poetry but from the actual supreme ordering of an experience ...It is the command of life which is reflected in his command of words and rhythm सारांश यह है कि कविता को समझने के लिए भले ही वह विश्लेषण-पद्धति पर बल देते हों, उन्होंने भले ही काव्य के रूप-बंध, शब्द-विधान, शब्दार्थ आदि के विश्लेषण द्वारा काव्य के अर्थ-विज्ञान का नये ढंग से विकास किया हो, और उनका यह विश्लेषण कलावादियों जैसा प्रतीत हो पर वह कला को जीवन से घनिष्ट रूप में सम्बद्ध मानते हैं।

यद्यपि आनन्दवर्धन ने स्पष्ट नहीं कहा है कि उन्होंने ध्वनि को दो रूपों में ग्रहण किया है—समग्र काव्यार्थ के रूप में, दूसरे अभिव्यंजना के विशिष्ट

प्रकार के रूप में। पहले का सम्बन्ध कवि-कथ्य से और दूसरे का कथन की शैली से। कवि-कथ्य-ध्वनि या काव्य-ध्वनि में आनन्दवर्धन ने विचार, भाव आदि सब प्रकार के कवि-कथ्यों को सम्मिलित करते हुए भी सर्वाधिक महत्त्व रस को ही दिया है। अभिनवगुप्त ने तो स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि ध्वनि को काव्य की आत्मा कहना तो सामान्य कथन मात्र है, प्रधानता के कारण वस्तुतः रस ही काव्य की आत्मा है, "तेन रस एव वस्तुत. आत्मा। वस्त्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रस प्रति पर्यवस्यते इति सामान्येन उक्तम्।" ध्वनि काव्य में ध्वनित होने वाला काव्यार्थ जीवन के किसी मार्मिक तथ्य मार्मिक संवेदना की ही अनुभूति कराता है। जीवन का श्रेय ध्वनि-काव्य में रस ध्वनि का रूप ग्रहण कर प्रेम बन जाता है और इस प्रकार उसमें प्रेय-श्रेय का सामंजस्य हो जाता है। हम ऊपर कह चुके हैं कि रिचर्ड्स का सिद्धान्त भी जीवन के श्रेय से सम्बद्ध है, अतः रस सिद्धान्त से अपेक्षाकृत सामीप्य अधिक होते हुए भी रिचर्ड्स के सिद्धान्त को ध्वनि-सिद्धान्त से बिल्कुल विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। जहाँ तक मूल्य की मनोवैज्ञानिक व्याख्या का सम्बन्ध है, रस सिद्धान्त भी पूर्णतः मनोवैज्ञानिक नहीं है।

ध्वनि सिद्धान्त मूलतः काव्य के 'अर्थान्तर' की प्रकल्पना पर आधृत है। वाच्यार्थ में सहृदय को आस्वाद प्रदान करने की क्षमता नहीं होती उसके लिए प्रत्येक प्रमाता को वाच्यार्थ से इतर किसी अन्य विशिष्ट एवं चारुतर अर्थ को प्राप्त करना होता है जिसे आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ कहा है इस प्रतीयमान अर्थ ग्रहण करने के लिए पाठक में सहृदयता, तत्त्व दर्शन-समर्थ बुद्धि एवं कल्पनाशील, सरस भावप्रवण मन होना आवश्यक है। रिचर्ड्स भी आदर्श पाठक (Ideal Reader) से इन्हीं गुणों की अपेक्षा करते हैं।

यह सच है कि ध्वनि सिद्धान्त और रिचर्ड्स दोनों काव्य में वाच्यार्थ से अधिक व्यंग्यार्थ को महत्त्व देते हैं और दोनों काव्य को श्रेय की प्रेयमयी अभिव्यक्ति मानते हैं, तथापि दोनों में पर्याप्त अन्तर भी है। रिचर्ड्स ने काव्य के मूल्य का विवेचन मनोवैज्ञानिक पद्धति पर करते हुए उत्तम काव्य वह माना है जिसमें अधिकाधिक आवेगों की सन्तुष्टि या, आवेगों का समंजन हो, "Anything is valuable which will satisfy an appetency without involving the frustration

of same equal or more important appetency" ध्वनिवादी आचार्य मनोविज्ञान के पंडित न थे और न मनोविज्ञान उस समय इतना विकसित ही था। अत उन्होंने काव्य की उत्तमता व्यंग्यार्थ मे मानी। मन के आवेगों को सन्तुलित या समंजित करने की बात वहा नहीं है। काव्यानुभूति की प्रक्रिया के छ सम्स्थानों का विवरण भी रिचर्ड्स की मनोवैज्ञानिक दृष्टि एव विवेचन का ही परिणाम है जो ध्वनि-सिद्धान्त मे नहीं मिलता। ध्वनिवादी आचार्यों की दृष्टि अपेक्षाकृत वस्तुपरक थी तभी तो ध्वनि के अनेक भेदोपभेदों का विवरण वहा मिलता है। मम्मट ने ध्वनि के 51 प्रमुख भेद माने जो परस्पर संयोजन से कई सहस्र तक पहुच जाते हैं। रिचर्ड्स शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध को मन शास्त्रीय महत्त्व की दृष्टि से देखते हैं। उनके अनुसार शब्द तथा अभिप्रेत विषय में कोई साक्षात् सम्बन्ध नही है। शब्द का सम्बन्ध सीधे भावों से ही है। ये भाव विषय तथा शब्द दोनों के मध्य बिन्दु बनकर दोनों को सम्बद्ध करते हैं। उनके अनुसार अर्थ वह मानसिक तत्त्व है जो एक ओर घटनाओं और विषयों के तथा दूसरी ओर उनके लिए प्रयोग में लाये जाने वाले शब्दों के बीच का सम्बन्ध है। अर्थ का यह मनोवैज्ञानिक विवेचन भी ध्वनि सिद्धान्त मे नहीं है। यद्यपि काव्य-विश्लेषण की उत्कट प्यास रिचर्ड्स में भी कम नहीं है, उनकी पुस्तक 'Practical criticism' इसका प्रमाण है, तथापि कुल मिलाकर रिचर्ड्स का मूल्यसिद्धान्त काव्य-सिद्धान्त के अन्तर्गत आएगा जबकि ध्वनि-सिद्धान्त काव्य-विश्लेषण की पद्धति के अधिक निकट है काव्य के आस्वाद की प्रक्रिया पर प्रकाश डालता है और शब्द-शक्ति एव अर्थ की दृष्टि से काव्य की व्याख्या करता है।

कम सुन्दर है वहाँ वह वाच्यार्थ का अंग बना रहता है। यह तो गुणीभूत व्यंग्य है यानि व्यंग्य गुणीभूत अथवा गौण रहता है। गुणीभूत व्यंग्य अलंकार की कोटि में आता है न कि अलंकार्य की।

अलंकार और अलंकार्य में क्या भेद है? जैसे मनुष्य शरीर में कंकण हार, इत्यादि आभूषण अलंकार हैं वैसे काव्य शरीर रूपी शब्द और अर्थ पहनाए जाने वाले आभूषण हैं अलंकार। शब्दों को सुसज्जित करने वाले अलंकार शब्दालंकार और अर्थ को अलंकृत करने वाले अर्थालंकार हैं। 'अनुप्रास' आदि प्रथम विभाग में आते हैं और उपमा, रूपक आदि द्वितीय विभाग में। हमारे काव्य शास्त्रियों ने काव्य शरीर के इन अलंकारों को गौण स्थान ही दिया है अर्थात् अलंकार काव्य का चरम लक्ष्य ही नहीं है। अलंकार न भी हो पर ध्वनि हो, तो वह काव्य माना जा सकता है। यहाँ उत्तम, मध्यम एवं विकृत काव्य की गणना की गयी है। वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि उत्तम कोटि में नहीं आयी। रस ध्वनि प्रतीयमान अर्थ का स्रोत है जिसमें रसानुभूति की क्षमता भी है। अतः जिस काव्य में रस-ध्वनि की संवेगता तीव्र हो वह श्रेष्ठ काव्य की कोटि में आता है।

काव्य शास्त्रियों के प्राचीन मतों का समूलतः अनुसरण किया जाय तो आज की अधिकतर कविताओं का मूल्यांकन करना कठिन होगा। आधुनिक कविता की विशेषता यह है कि वह एक भावना को उद्दीप्त करने के पश्चात् उसमें मिलती-जुलती अन्य भावनाओं की अभिव्यक्ति द्वारा नितान्त एवं अनुभूतिमय जगत् की सृष्टि ही कर देती है। इस प्रयास की सफलता के लिए तदनुसार बिम्बों एवं प्रतीकों की आविष्क्रिया की जानी पड़ती है। प्राचीन प्रतीक अपनी अविराम प्रयोग क्रिया से रूढ़ हो चुके हैं। भ्रमर, कमल, चन्द्रमा आदि प्रतीक जो भाव पुरानी कविताओं में प्रकट करते थे वे अपने-अपने स्थानों पर ठीक थे। परन्तु वे आधुनिक काव्यों में जब प्रयुक्त होते हैं तब हमें एक नवीन अनुभूति-मण्डल की ओर खींच ले जाते हैं। पुराने कवियों के ये प्रतीक अपने नियत अर्थों में प्रयुक्त होकर अब तक रूढ़ एवं जड़ हो चुके हैं और इस स्थिति में एक प्रतिभावान कवि को नूतन एवम् ओजस्वी प्रतीकों का आश्रय लेना पड़ रहा है। नये प्रतीक विभिन्न स्थानों में अपनी विभिन्न ध्वनियों को लेकर ही प्रकट होंगे। उनके प्रयोग के परिप्रेक्ष्य में देश-काल और संस्कृति विशेष का प्रभाव लक्षित होना स्वाभाविक है। हिन्दी की छायावादी काव्य धारा में प्रतीक विधान

एवं बिम्ब-ग्रहण के साथ रस ध्वनि का जो नीर-क्षीर संयोग हुआ है वह अत्यन्त आकर्षक हो गया है। दर्शन और चिन्तन के स्पष्टीकरण में प्रस्तुत काव्य-कौशल अवश्यमेव नया दिशा-दान प्रस्तुत कर सका है। इस लेखक की दृष्टि में रस ध्वनि की मधुर सर्जना छायावाद युग में जो हो पायी है वह अन्यत्र कहीं नहीं हो पायी है। ऐसा लगता है कि ध्वनि और रस के इस समन्वयीकरण को ऐतिहासिक लाचारी (Historical necessity) कहना उचित होगा। यह विषय समीचीन अध्ययन की अपेक्षा की ओर इंगित करता है।

इस सन्दर्भ में भारतीय कवि जी शंकर कुरुप के काव्य का अध्ययन करना सरल है। 'जी' का परिचय यदि एक वाक्य में दिया जाय तो इस प्रकार कहा जा सकता है कि जी भारतीय भाव धारा के सशक्त संवाहक और नवयुगीन काव्य-कौशल के एक सफल एवम् कुशल चित्रकार हैं। उन्होंने रस ध्वनि का अत्यन्त सफल निर्वहण किया है। कृत्रिमता उसे छू नहीं गयी है। काल, निमिष, जीवन, मरण, प्रकृति, विश्व-दर्शन आदि कितने ही विषयों पर उनकी कवितायें हैं। सब में रस ध्वनि का साक्षात् परिपाक दर्शनीय है।

ऊपर कहा जा चुका है कि आधुनिक प्रतीक विभिन्न स्थानों में अपनी विभिन्न ध्वनियों की आविष्क्रिया करते हैं।

उदाहरण के लिए जी शंकर कुरुप की काल-सम्बन्धी कवितायें ले सकते हैं। 'काल' विषय की तीन कवितायें 'जी' की लिखी हुई हैं। इन तीनों कविताओं में तीन प्रकार के प्रतीकों द्वारा रस-ध्वनि का निर्वहण किया गया है। ये प्रतीक एक दूसरे से उज्ज्वल, प्राणवान् और ओजस्वी बने हैं और इनके माध्यम से ध्वनि-कार्य अपने में सम्पूर्ण हो सका है और इस ध्वनि रस-व्यापार का काव्य-कौशल अनूठा एवम् स्तुत्य है। यहाँ इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि काल सम्बन्धी प्रतीक-निधि के मूल में कुरुप का प्रेरणास्रोत वेदकाल से लेकर अधुनिकतम भारतीय दर्शन तक का स्वस्थ तथा सुसन्तुलित चिन्तन-धारा है। देखिए। आदि मध्यान्त रहित 'काल'[1] पूर्वजों के मत में 'अनन्त' एवं 'कालहि' है। कुरुप भी उसी पौराणिक प्रतीक का आश्रय लेकर यात्राशील हो जाते हैं। परन्तु प्रतिभावना कवि

1. काल को '[illegible]' और वृक्ष के प्रतीकों में भी कवि की अन्य दो रचनायें हैं।

मार्ग में उस प्रतीक से अनुबन्धित वई अन्यत नूतन तथा आकर्षक बिम्बों के प्रयोग से हमारे मनोमण्डल में असख्य मधुर रूप प्रस्तुत कर देते हैं और उनके दर्शन मात्र से हमारे आस्वादन-पथ में ध्वनियों का व्यापक जगत् ही अनावृत कर छोड़ते हैं। फलस्वरूप हम एक प्रकार के नवीन भावलोक में प्रविष्ट होकर वहाँ की दिव्य रमणीयता के मधुर रस का आस्वादन करने लगते हैं। .. 'काल कुण्डली जगत् के मण्डलों की परिक्रमा करती है। पता नहीं उनका वासस्थान किस-कहाँ है। (अर्थात् काल अनादि है)। आकाश में दिखाई पड़ने वाला शुक्र पटल (नक्षत्र-समूह अथवा आकाश गगा) उस सर्प की छोड़ी हुई केंचुली है। आकाश रूपी पक्षी की आशा है कि उसके पखो के नीचे रहने वाले गोल रूपी अण्डे फूट निकलेंगे। परन्तु, वह क्या जाने कि वे सब अण्डे काल रूपी सर्प के चूसे हुए छिलके मात्र हैं। काल-सर्प की जिह्वा के दो अग्र हैं दिवस और रात्रि। जब वह प्रतिकार भाव से अपने उग्र और अन्तहीन जिह्वाग्रों से चाटेगा तो कांपता हुआ पर्वत स्तम्भित हो जाता है और सागर कांपता हुआ सकुचित हो जाता है। इस प्रकार कवि नित्य-नश्वर जगत् की जड़ता का चित्र प्रस्तुत कर देते हैं। कवि इसी विश्व के सम्मुख एक शिशु को बिठा देते हैं। वह शिशु विश्व की नश्वरता और असारता के बारे में कुछ भी जानता है नहीं। वह अपने खिलौनों से बस खेलना ही जानता है। वह उस भयानक सर्प के शरीर पर बैठकर खेल रहा है। यह शिशु कौन है ? यही जीवन है।'

जीवन की अनित्यता और माया की विमुग्धता को लक्ष्य करके कितने ही कवियों ने गाया है। प्रस्तुत भाव और उस भाव को अभिव्यक्त करने हेतु काम में लाये गये प्रतीक बहुत ही प्राचीन हैं। परन्तु फिर भी इस कविता में अथ से इति तक प्रयुक्त शृखलित बिम्ब योजना नितान्त नवीन है। प्रयोग की रीति भी अत्यन्त आकर्षक है। उसमें निकलने वाली ध्वनि एक नये और अद्भुत भाव-जगत् में पाठकों को ले जाकर अनुबन्धित रस से मुग्ध कर ही लेती है। इस प्रकार आज्ञय के प्राचीनता के धरातल पर खड़े रहने पर भी कविता नवीन एवम् मधुर बन गई है। कविता का रस अभिव्यक्ति विशेष में तो है। कवि ने इस मोहकता सृजन को अपने सद्जात बिम्बों और प्रतीकों द्वारा किया है। ये बिम्ब और प्रतीक वाच्यार्थ के मण्डल से कोसों दूर हैं और वे रसात्मक और ध्वन्य का लोक प्रोद्भासित करने में सक्षम हैं। इससे स्पष्ट है कि कवि ने अपने बिम्बों द्वारा जो

नवीनता और काव्य में गरिमा सजा दी उससे प्राचीन आलंकारिकों की व्यंग्य व्यंजना-ध्वनि की नई परिभाषा के लिए दिशा-दान हो चुका है। ध्वनि सिद्धान्त का प्राचीन मान-दण्ड यहाँ कहाँ तक लागू हो सकता है इसमें शंका है। अथवा ध्वनिकार के प्रस्थापित नियमों के अनुयोज्य अन्य व्यापक एवं नए आयामों का निर्देशन करने में प्रवीण नूतन ध्वनिकारों की अपेक्षा की ओर शंकर कुरुप की कविताएँ इंगित करती हैं।

वे नूतन ध्वनिकार सम्भवतः नवीन काव्य-धारा का पूर्वाचार्यों के सिद्धान्त से मिलान का विकल्प प्रस्तुत कर सकते हैं। जब वे अपने प्रयत्न में व्याप्त न हो जाएँगे, तब कवि की नवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा से जनित अद्भुत प्रतिभा की वर्णनातीतता में स्वयं विलीन हो जाएँगे और साथ ही प्राचीन प्रतिमानों का त्याग कर देंगे। कवि शास्त्रकार के निर्धारित मार्ग पर ही चलने वाला कोई मानव-यन्त्र नहीं है।

अतः हम जो शंकर कुरुप की कविता की ध्वनि और अलंकार के सम्बन्ध में जानना चाहेंगे तो हमें कतिपय अपूर्व नए काव्य प्रतिमानों की शरण लेनी पड़ेगी। हम कवि की एक अन्य कविता के माध्यम से इस पर प्रकाश डालेंगे। 'सागर-सन्देश'[2] नामक कविता को ही इस प्रसंग में ले लेंगे। कविता इस प्रकार है (इस कविता में प्रयुक्त शब्द स्वयं मलयालम कविता के ही हैं। केवल हिन्दीकरण का प्रयास मात्र किया गया है। प्रस्तुत शब्द प्रयोगों से विदित होगा कि हिन्दी और मलयालम के बीच के घनिष्ट सम्बन्ध के मूल में संस्कृत भाषा का क्या योगदान है।)

अम्बर शान्त है निस्तरंगमल स्वच्छ शान्त है।
शान्त आराम राज समय मम स्वान्त।
हे स्वस्त सागर, भवद्रूप दर्शन से
यह सुप्त मेरी आत्मा अन्तर्लीन शान्ती है।
तू अनारता की नील-गम्भीरान्तरछाया,
तेरे आश्लेष से मेरा मन जृम्भित हो जाता है।
मेरे क्षुद्र कानों में सुना नहीं जा सके,
मंद निस्वनों के एक मोहनगानालाप से

2. इस कविता पर श्री॰ जान॰ क्स का एक कविता की अनुकरण छाया का आरोप लगाया गया है। फिर भी जी की कविता एवं प्रतिभा का परिचय भी मिलेगा।

उद्धत कपोल्लों कल्लोल जाल ऊपर किये
रौद्र भंगिमा में नर्तन वाला है भुजग !
आकाश अपने विशाल श्याम वक्ष म दंशित होकर
आनन्द मूर्छाधीन खड़ा रहता है।
मेरी आत्मा के भीतर आ जा -
मेरे हृदय को भी दंशित कर दे
उत्तुंग फणाग्र पर
मुझे भी उठा ले
नीरव नृत्यगृह म अब सन्ध्या
नीरव बैठी है राग विभ्रम के साथ
हृदय द्रवीभूत करने वाले किस उज्ज्वल गाने की
उदय लय-संहित भवान मल्लापते हैं ?
कनक निचोल गिर कर मनोरस है वह
अनवद्य सन्ध्या देवी जिसके कपोल पर
क्षण म चू पड़ने को है चमचम तारा वाष्पकण,
अनिर्वाच्य नव्य निर्वृति बिन्दु !
आप से जाना मैंने आत्मा म
भरने वाली पूरन मल्ल मैत्री।
नित्य गायक ! सिखाओ मम हृदस्पन्द को
सत्य जीवन छन्द गीत का ताल क्रम !
जीवन गान काल ताल
आत्मा के नाना भाव
विभिन्न राग
विश्व मण्डल लय !
शशांक चषक म फेनिल दिव्यानन्द
लेकर आयी लो शुक्ल पंचमी धीरे धीरे।
अनन्ता मुग्धा का नीलभ्रू प्रति बिम्बित
पान भाजन कम्पित कर से स्वयं लेकर
फेन मंजुल स्मिति से पान कर
अनन्य भाव में गाने वाले हर्षोन्मादी
स्तब्धभाव म स्तब्धायमान वक्ष पर

वह मधु सिर रख खड़ी है लज्जामूक
सुन्दरी की श्लथ वेणी से
फुल्ल सहस कुन्दमुकुल लो—
प्रतिबिम्बित ताराजाल नहीं कभी वे—
तेरे कम्पित स्निग्धोरस में गिरे पड़े हैं।
कामुक करो आलिंगन,
आच्छादित करो
मैं उन कुंचित वेणीजाल का
देता हूं आशिष।
निद्रा में लीन हो गए हैं धरणी औ आकाश
हृद्रम ! अकेले हो गए और मैं तुम।
अपने अगाध आशय रहस्य का
मेरी आत्मा के कानों में भर दो।
एक धीर परिवर्तनोत्साह की
गुरु-गम्भीर गान वीचियाँ हे प्रचण्ड !
जीवन की सीमा को न मान
एक दैविक व्यग्रता से पूर्ण तुम्हारे
भीतर से अनवरत उठ रही है जो
स्थिति-पालन को नित्य धर्म मानने वाली
क्षिति को प्रकम्पित बनाने में सक्षम है।
निश्चय, तव सन्देश वपन गूंजता है
निश्चल नश्वर नक्षत्र साम्राज्य में।
क्षीणित मेरी आत्मा यदि
फूट जाय, तो जाय।
वीणा बना दो उसे
(भवदाशय गानालाप होने दो)

प्रस्तुत कविता को चार खण्डों में विभक्त किया गया है। प्रथम खण्ड में क्या पात्र हैं आकाश सागर और कवि। अम्बर शान्त है और कवि का स्वान्त भी शान्त है। इस सागर को देखकर कवि का अन्तर्लोचन खुलता है। शान्त आकाश तो सागर रूपी सर्प का दंश सहकर मूर्छा में खड़ा रहता है। शान्त हृदय कवि भी उस सर्प से दंशित होना चाहता है। इस प्रसंग में

कवि अपने से पृथक रहने वाली प्रकृति के दो भावों से आत्मसात् करके उनमे एक से तादात्म्य स्थापित करना चाहता है। प्रकृति की आनन्द मूर्छा में लयलीन होने की उत्कट आकांक्षा इस काव्य-खण्ड की ध्वनि है। परन्तु, इतने से काव्य की ध्वनि की पूर्णता अभिव्यंजित नहीं हुई। काव्य वस्तु और उसे अभिव्यक्त करने की साज-सज्जा में चमत्कार का यथा सम्भव सन्निवेश हो सका है। प्रतीकों और बिम्बों के अविराम व्यापार से ध्वनि का अजस्र प्रवाह जैसा है, जो एक प्रकार की रसवेद्यता तक पहुंचा देता है। इन सब से परे कवि की अभिलाषा की निद्रि ध्वनि है, जो उनके काव्य जीवन के प्रारम्भ से सवन्धित है। कुरूप के 'कवि' में प्रारम्भकालीन अभिलाषा जो उमड़ पड़ी थी उसकी मार्मिक व्यंजना भी कम महत्व की नहीं है। प्रकृति के सच्चे उपासक कवि काव्य-जीवन की प्रारम्भिक दशा में उसके भयानक सौन्दर्य की ओर हठात् आकर्षित हो जाता है। साथ ही उसकी उन्मादमयी स्थिति के साथ तादात्म्य प्राप्त करने की वाछा प्रकट करता है।

काव्य के दूसरे खण्ड म सन्ध्या—वह कामुकी-नीरद-लता-गृह मे नीरव बैठी है। सागर उस सुन्दरी के हृदय को मथने और उसे अपनी ओर आकर्षित करने मे सक्षम गीतों का आलाप करता है। वह प्रेम गान म भी कवि लयलीन हो जाता है। तब कवि को अनुभव हुआ कि जीवन गान है और काल ताल है। यही नहीं, आत्मा का प्रत्येक भाव कोई राग और सारा विश्व मण्डल लय है। काव्य माधुर्य का प्रभूत आस्वादन यहां सम्भव है क्योंकि ध्वनि पक्ष प्रति शब्द में परिलक्षित हो सका है। इनसे परे, यह ध्वनि भी काव्य का मर्म है कि प्रस्तुत अश कवि के काव्य-जीवन के द्वितीय सन्दर्भ की ओर दिशा-दर्शन करता है। वह सन्दर्भ कवि के भाव म विश्व-प्रेम की लयीभूत अवस्था को व्यंजित कर देता है।

तीसरे खण्ड मे सागर प्रेयसी के मिलन म आतुर है। कामुकी शुक्ल-पचमी शशांक रूपी मधु चषक लेकर प्रत्यक्ष हो जाती है। प्रेमी-प्रेमिका का मिलन हो जाता है। यहां उस मिलन के अद्भुत दृश्य को देखकर कवि केवल आशिष दे सकते हैं। विश्व प्रेम के साकार बिम्ब प्रति बिम्बों को देखकर कवि आश्चर्य खड़े रह जाते हैं। इस काव्य खण्ड की ध्वनि कुरूप के काव्य जीवन के तीसरे सन्दर्भ की व्यजना करती है। (रोमेन्टिक युग की परिसीमा को इ गित करती है।)

चतुर्थ खण्ड—सारा जगत् निद्राधीन है। परन्तु कामुक सागर और कवि दोनों जागे हुए हैं। वे कैसे निद्राधीन हो सकते हैं? सो जाना उनके लिए अपराध भी हो सकता है। कवि भी उस कामुक का अबाध आशय प्राप्त करना चाहता है। वह महान् आशय है क्या? स्थिति-पालन धर्म को निर्मूल कर देना। जीवन परिसीमा को न मान लेना। एक प्रकार की दैविक व्यग्रता को अपनाना। विप्लव गान में संसार को ही नहीं दूर रहने वाले नक्षत्रों को भी प्रकम्पित कर देना। इस प्रकार कवि कामना करता है कि मेरी शोणित आत्मा अगर टूट जाएगी तो टूट जाय। फिर भी वह विप्लव गान बजाने वाली वीणा हो जाय। कुरुप के काव्य-जीवन का यह चतुर्थ काल अत्यन्त आकर्षक तथा स्मरणीय है। असंख्य कवितायें कवि ने अपने विप्लव गान के द्वारा अभिव्यक्त कर दी हैं। नाळे' (कल) आदि उनमें आती हैं।

स्पष्ट हो गया होगा कि सागरगीत केवल सागर का गर्जन नहीं है। यदि कोई आलोचक इस कविता में ध्वनित ध्वनि के सम्बन्ध में कहना चाहेगा तो स्वानुभूत भाव के बल पर कुछ अभिमत रख सकता है। परन्तु, फिर भी वह कहाँ तक व्याप्त रहेगा, यह कहा नहीं जा सकता। जब कोई सहृदय पाठक इस कविता के वाच्यार्थ को त्यागकर व्यंग्यार्थ की ओर उन्मुख होने लगेगा तब वह अपनी सहृदयता के अनुकूल प्रस्तुत कविता में निहित ध्वनि की सरसतापूर्वक व्यंजना दे सकता है। उदाहरण के लिए प्रस्तुत कविता में रहस्य भावना के दर्शन जैसे प्राप्त किये जा सकते हैं। यहां भी इस पर ध्यान रखना है कि तब भी हमारे समीक्षक इनसे सन्तुष्ट हो जायें, यह जरूरी नहीं है। जरूरी होना भी नहीं चाहिए। क्योंकि वाच्य रसानुगामी होने का दायित्व हर ध्वनि का अपना अलग हो, तभी अच्छा होगा। प्राचीन क्लासिक कवियों ने जो व्यंजना का जगत् प्रस्तुत किया था उसकी अपनी परिमिति थी। लेकिन कुरुप की भी आधुनिक कविता में व्यंजित ध्वनि का व्यापकत्व सहृदयता की भाँति अनन्त है। कोई भी समीक्षक उसे सीमा-परिधि के भीतर रख नहीं सकता। कवि स्वयं इस व्याख्या रीति से असहिष्णु हो जा सकते हैं। यह असहिष्णुता अपनी सर्गात्मकता के प्रति उनकी उदारता का प्रमाण है।

'जी' ने अलंकार के लिए कोई कविता नहीं रची है। तब भी कुरुप की कोई कविता अलंकृत होकर प्रकाश नहीं हुई है। उनकी कवितायें ध्वनि-

प्रधान हैं। उन कविताओं में आये हुए अलंकार 'सैरन्ध्री' का ही काम देते हैं। प्रयुक्त अलंकारों के सन्दर्भ में भी प्राचीन आलंकारिकों के मत पराजित होते दिखाई पड़ते हैं। एक उदाहरण को दिखाते हुए इस लेख को समाप्त किया जा सकता है। 'प्रति बिम्बित ताराजाल नहीं कभी वे"—कामुकी शुक्ल पंचमी की श्लथ वेणी से गिर पड़े हुए प्रसून—वास्तव में हम जानते हैं कि प्रति बिम्बित तारा जाल तो हैं। फिर भी यदि हमें समझा देना चाहते हैं कि वे ताराजाल नहीं हैं। प्रत्यक्ष में हमें कहना पड़ेगा कि यह अपह्नुति अलंकार है। फिर भी, इसी अलंकार विशेष सीमा में यह प्रयोग नहीं रहेगा। इसका दायरा इससे बड़ी व्यापक है। चमत्कार भंगिमा की सुघटना तभी सम्भव हो सकी है। ऐसा होने पर भी इसकी व्याख्या करना भी सम्भव नहीं है। अलंकार शास्त्र को यहाँ कवि भावना कुण्ठित कर देती है। 'श्री' की कविताओं में सर्वत्र प्रयुक्त प्रतीकों एवं बिम्बों के स्थान पर केवल अलंकार तथा अन्य काव्य-चमत्कार शोभा नहीं देते। वे प्रतीक स्वयं अपने मण्डलों में रहते हुए अपने लिये योग्य अलंकारों का चयन करते हैं। 'सागर गीत' का यह समास शब्द 'तारा वाष्प कण' केवल रूपक तो नहीं है। लेकिन जब यहाँ वह रूपक नहीं रहेगा तब प्रतीक भी फीका पड़ जाएगा। दोनों परस्पर अवलंबित रहते हैं। इन दोनों के मिश्रण से प्राप्त रस ध्वनि का एक पूरा जगत् है 'श्री' की कविता की आत्मा।

15

अनुमान तथा व्यञ्जना

मानसिंह

अपने प्रख्यात काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' (१०५०-११०० ई० के मध्य रचित)[1] के पञ्चम उल्लास में वाग्देवतावतार ध्वनिप्रस्थानपरमाचार्य मम्मट ने अनुमान के अन्तर्गत व्यञ्जना के अन्तर्भाव का खण्डन किया है। व्यञ्जनावादी द्वारा व्यञ्जनावृत्ति से प्राप्य अर्थ की प्रतीति नैयायिकों ने अनुमिति-प्रक्रिया द्वारा मानी है। मम्मट ने इस प्रसङ्ग में नैयायिकों के दृष्टिकोण का संकेत करते हुए किसी नैयायिक विशेष का नामना उल्लेख नहीं किया है। गोविन्द ठक्कुर[2] तथा अन्य कुछ परवर्ती टीकाकारों ने 'काव्यप्रकाश' के "ननु वाच्यादसम्बद्धं तावन्न प्रतीयते, यतः कुतश्चिद् यस्य कस्यचिदर्थस्य प्रतीतेः प्रसङ्गात्। एवं च सम्बन्धाद् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽप्रतिबन्धे ऽवश्यं न भवतीति व्याप्तत्वेन नियतधर्मिनिष्ठत्वेन च त्रिरूपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमनुमानं यत् तद्रूपं पर्यवस्यति।" (पञ्चम उल्लास, पृ० २५२)[3]। आदि

1 द्रष्टव्य पी० वी० काणे *History of Sanskrit Poetics* (दिल्ली मोतीलाल बनारसीदास, तृतीय संस्करण, 1961), पृ० 274।

2. सम्भवतः पन्द्रहवीं सदी ई० । द्रष्टव्य वही, पृ० 275।

3 काव्यप्रकाश, वामनाचार्य रामभट्ट झलकीकर विरचित 'बालबोधिनी' सहित, सं० रघुनाथ दामोदर करमरकर, पूना भाण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन-संस्थान, षष्ठ संस्करण, 1950।

शब्दों में 'व्यक्तिविवेक' के ख्यातनामा प्रणेता महिमभट्ट (१०२०-१०५० अथवा ११०० ई० के मध्य)[4] के मत का संकेत माना है, यद्यपि प्राचीन टीकाकार माणिक्यचन्द्र[5] तथा सोमेश्वर इस प्रकार का संकेत नहीं करते। महिमभट्ट वस्तुतः इस प्रकार के मत के प्रथम प्रवर्तक नहीं माने जा सकते। आनन्दवर्धन (८६० ८९० ई० के लगभग)[6] को भी व्यञ्जनाविरोधी तथा व्यञ्जना का अनुमान में अन्तर्भाव मानने वा— वाले नैयायिकों का पता था।[7] उन्होंने उनके मत का खण्डन किया है।[8]

आचार्य मम्मट ने प्रथम न्यायमत को प्रस्तुत कर पुनः उसका खण्डन कर व्यञ्जना-वृत्ति की अनिवार्यता की स्थापना की है। इन नैयायिकों के मत में वाच्यार्थ से असम्बद्ध किसी अर्थ की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि यदि वाच्य से असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति होने लगे तो किसी शब्द से किसी भी अर्थ की प्रतीति होने लगेगी। अतएव व्यञ्जनावादियों का व्यङ्ग्यव्यञ्जक-भाव भी अप्रतिबन्ध से नहीं होता।[9] इस प्रकार व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव का पर्यवसान पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व तथा विपक्षव्यावृत्ति रूप त्रिरूप लिङ्ग (हेतु) से लिङ्गी (साध्य) के अनुमान में हो जाता है। जिस प्रकार लिङ्ग (हेतु) से लिङ्गी (साध्य) का अनुमान किया जाता है उसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थ का अनुमान वाच्यार्थ से किया जा सकता है। इस प्रकार तथाकथित

4 द्रष्टव्य डा० पी० काणे पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 256।
5. उनकी टीका का रचना काल सम्वत् 1216 (तदनुसार 1159-60 ई०) है। इसकी एक पाण्डुलिपि का समय सम्वत् 1215 है। द्रष्टव्य वही, पृ० 274।
6 वही, पृ० 202।
7. द्रष्टव्य ध्वन्यालोक, अभिनवगुप्तकृत 'लोचन' सहित (सं० रामसागर त्रिपाठी, दिल्ली मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण, 1963, भाग 1-2) भाग 3/33 पर वृत्ति, पृ० 1103 'ब्रूयात्—अस्य भिन्नज्ञानाभावात् व्यञ्जकत्वं शब्दानां गमकत्वं तच्च लिङ्गत्वमतश्च व्यङ्ग्यप्रतीतिर्लिङ्गिप्रतीतिरेवेति लिङ्गलिङ्गिभाव एव तेषां व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो नापरः कश्चित्। अतश्चैतदवश्यमेव बोद्धव्यं यस्माद्वक्त्रभिप्रायापेक्षया व्यञ्जकत्वमिदानीमेव त्वया प्रतिपादितं वक्त्रभिप्रायश्चानुमेयरूप एव।'
8 वही, भाग 2, 3/33 पर वृत्ति, पृ० 1103-18।
9 द्रष्टव्य स्वयं आनन्दवर्धन के शब्द, वही, भाग 2, 3/33 पर वृत्ति, पृ० 1111 'व्यङ्ग्यश्चार्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्ततया वाच्यस्य सम्बन्धी भवत्येव। साक्षादसम्बन्धो हि सम्बन्धप्रयोजकः। वाच्यवाचकाश्रयत्वं च व्यञ्जकत्वस्य प्रागेव दर्शितम्।'

व्यंग्यार्थ अनुमेयार्थ ही है। उसकी प्रतीति के लिए व्यञ्जना-वृत्ति की शरण लेना अनिवार्य नहीं है। इस संक्षिप्त भूमिका के बाद आचार्य मम्मट ने यह प्रदर्शित करने के लिए कि नैयायिक किस प्रकार व्यंग्यार्थ को अनुमेयार्थ सिद्ध करते हैं गाथासप्तशती की एक गाथा उद्धृत की है। कोई नायिका गोदावरी के कछार के एक कुञ्ज में अपने प्रेमी के साथ प्रणय-क्रीडा में किसी अपने पुष्पचयनादिक कर्म से विघ्न डालने वाले धार्मिक पण्डित जी के निवारणार्थ उनसे कहती है—

भम धम्मिअ वीसद्धो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण।
गोलाणईकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण॥[10]

[हे धार्मिक! आप निडर होकर भ्रमण करें। गोदावरी के कछार के कुञ्ज में रहने वाले उस दृप्त सिंह ने आज उस कुत्ते को मार डाला है।] वाच्यार्थ से प्रतीत होता है कि नायिका धार्मिक पण्डित जी को कुञ्ज में निर्भय हो भ्रमण करने के लिए कहती है, किन्तु वस्तुतः उसका तात्पर्य इसके सर्वथा विपरीत है। चाहती वह यह है कि वह धार्मिक उधर आना-जाना सर्वथा बन्द कर दे और भूलकर भी कुञ्ज में न फटके, जिससे वह अपने प्रेमी के साथ निर्विघ्न एवं निर्बाध प्रणय-क्रीडा कर सके। इस अर्थ को व्यञ्जनावादियों ने व्यंग्यार्थ और नैयायिकों ने अनुमेयार्थ माना है।

10 गाथासप्तशती, 2/75। संस्कृतछाया—

भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदावरीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन॥

परमानन्द शास्त्री के संस्करण ([illegible] प्रकाशन प्रतिष्ठान, आनन्दपुर, प्रथम संस्करण, 1965) में '[illegible]—' के स्थान पर 'गोलातडविअड—' पाठ है। अभिनव गुप्त (ध्वन्यालोक, भाग 1, 1.4 पर 'लोचन', पृ० 84) 'गोलाणईकच्छकुडङ्गवासिणा' के स्थान पर '[illegible]' पाठ प्रस्तुत करते हैं।

11 आचार्य मम्मट के शब्द 'गोदावरीतीरे च सिंहोपलब्धेः' (पृ० 254) तथा 'गोदावरीतीरे सिंहसद्भावः' (पृ० 255) गोदावरी के तीर पर सिंह की उपलब्धि को सिद्ध करते हैं, जबकि कवि के अनुसार सिंह की स्थिति गोदावरी के कच्छ के कुञ्ज में है। इस गाथा का उस धार्मिक से कहने वाली नायिका का तो धार्मिक का कुञ्ज में निवारण अभिप्रेत है, नदी के तट से नहीं, क्योंकि सम्पूर्ण तट से उसका कोई प्रयोजन भी नहीं है। अतः सिंह की [illegible] उस कुञ्ज में बताना है, न कि नदी तीर पर।

एक नैयायिक इस अनुमेयार्थ की प्रतीति अधोलिखित पञ्चावयव वाक्य द्वारा करेगा—

१ प्रतिज्ञा गोदावरीकच्छकुञ्ज[11] भीरुभ्रमणायोग्यम् ।
[गोदावरी के कछार का कुञ्ज भीरु व्यक्ति के भ्रमण के अयोग्य है ।]

२ हेतु भयकारणसिंहोपलब्धेः ।
[भय के कारण सिंह की उपलब्धि होने के कारण]

३ दृष्टान्त यद्यद् भीरुभ्रमणयोग्य तत्तद् भयकारणाभाववद् यथा गृहम्
[जो जो भीरु के भ्रमण के योग्य है वह वह भय के कारण से रहित होता है यथा गृह]

४ उपनय न चेदं कुञ्ज तथा (भयकारणाभाववत्) सिंहोपलब्धेः ।
[यह कुञ्ज वैसा (भय के कारण सिंह के अभाव से युक्त) नहीं है सिंह की उपलब्धि के कारण]

५ निगमन तस्माद् भीरुभ्रमणायोग्यम् ।
[अत एव (यह कुञ्ज) भीरु के भ्रमण के अयोग्य है ।]

आचार्य मम्मट ने इस अनुमिति प्रक्रिया के विरोध में निम्नलिखित युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं—

(१) *निश्चयात्मक अनुमानात्मक ज्ञान की उपलब्धि सद् हेतु अथवा लिङ्ग* से ही हो सकती है । जिस हेतु में अपने साध्य के साथ सर्वत्र दैशिक अथवा कालिक व्याप्ति पाई जाती है वही अपने साध्य का अनुमापक होने से सद्हेतु होता है ।[12] ऊपर सिंहोपलब्धि को गोदावरी के कुञ्ज में भीरु व्यक्ति के अभ्रमण का हेतु स्वीकार किया गया है जबकि गुरु अथवा प्रभु (स्वामी) के निदेश से प्रिया के अनुराग से *अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य कारण से भय का हेतु विद्यमान* होने पर भी भीरु की भी प्रवृत्ति पाई जाती है । अतः उपरिप्रदत्त

12 हेतु-लक्षण के लिए द्रष्टव्य ब्रजनारायण शर्मा भारतीय दर्शन में अनुमान (भोपाल मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रथम संस्करण 1973) पृ० 48 69 । दुष्ट हेतु हेत्वाभास कहलाता है । हेत्वाभास लक्षण के सविस्तार विवेचनार्थ द्रष्टव्य वही पृ० 312 19 ।

हेतु विपक्षव्यावृत्तित्व से रहित होने के कारण अनैकान्तिक है ।[13]

(2) कोई धार्मिक व्यक्ति स्पर्शशंका के कारण कुत्ते से डर सकता है किन्तु वीर होने के कारण सिंह से नहीं भी डर सकता । अतः उपरि-प्रस्तुत हेतु विरुद्ध भी है ।[14]

(3) गोदावरीकच्छकुञ्ज रूप पक्ष में सिंहोपलब्धि रूप हेतु की सत्ता निश्चित नहीं है, क्योंकि उस धार्मिक द्वारा वहाँ सिंह का सद्भाव प्रत्यक्ष अथवा अनुमान द्वारा निश्चित नहीं किया गया है, केवल उस स्त्री के वचन से ही उसे उसका ज्ञान हो रहा है जबकि अर्थ के साथ वचन का प्रतिबन्ध न होने से अर्थात् वचन से जिस अर्थ की प्रतीति हो वह अर्थ अवश्य ही होना चाहिए इस प्रकार का नियम अथवा व्याप्ति न होने के कारण वचन का प्रामाण्य नहीं है । इस प्रकार सिंहोपलब्धि रूप हेतु के गोदावरीकच्छकुञ्ज रूप पक्ष (आश्रय) में निश्चित रूप से गृहीत न होने से यह हेतु असिद्ध हेत्वाभास हो जाता है ।[15]

(4) इस प्रकार यह हेतु सद्धेतु न होकर हेत्वाभास है । असद्हेतु अथवा हेत्वाभास से किसी साध्य की सिद्धि नहीं की जा सकती ।[16] अतः व्यङ्ग्यार्थ को अनुमिति में गतार्थ नहीं माना जा सकता ।

आचार्य मम्मट की इन युक्तियों का उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है—

(1) यह कहना कि सिंहोपलब्धि को गोदावरीकच्छकुञ्ज में भीरु व्यक्ति

13 अनैकान्तिक हेत्वाभास के विस्तृत विवेचन के लिए देखिए वही पृ० 324 30 ।

14 द्रष्टव्य ईश्वरकृष्ण [illegible] (गायकवाड़ [illegible] संस्कृत ग्रन्थमाला 115, द्वितीय संस्करण, 1963) पृ० 94 "[illegible] हेतुर्विरुद्धः ।"

15 वही पृ० 91 "निश्चयासिद्धो हेतुरसिद्धः ।" ईश्वरकृष्ण (वही, पृ० 91) तथा मधुरानाथ (द्रष्टव्य [illegible] पूर्वोद्धृत ग्रन्थ पृ० 342) पक्ष में निश्चित रूप से अविद्यमान इस प्रकार के हेतु को स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास मानते ।

16 द्रष्टव्य काव्यप्रकाश, पृ० 245 अत्रोच्यते । भीरुरपि गुरोः प्रभोर्वा निदेशेन प्रियानुरागेण अन्येन चैवंभूतेन हेतुना सत्यपि भयकारणे भ्रमतीत्यनैकान्तिको हेतुः शुनो बिभ्यदपि वीरत्वेन सिंहान्न बिभेतीति विरुद्धोऽपि गोदावरीतीरे सिंहसद्भावः प्रत्यक्षानुमानाद्वा न निश्चितः अपि तु वचनात् न च वचनस्य प्रामाण्यमस्ति अर्थेनाप्रतिबन्धादित्यसिद्धश्च तत्कथमेवंविधाद्धेतोः साध्यसिद्धिः ।

के अभ्रमण का हेतु नहीं माना जा सकता, क्योंकि गुरु अथवा प्रभु *(स्वामी)* के निर्देश से प्रिया के अनुराग से अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य कारण से भयहेतु के विद्यमान होने पर भी भीरु व्यक्ति की भी प्रवृत्ति पाई जाती है—प्रस्तुत प्रसग म सर्वथा अप्रासंगिक है क्योंकि यहाँ (भीरु) धार्मिक के लिए ऐसा कोई कारण विद्यमान नहीं है। सामान्यत मनुष्य विशेषत भीरु मनुष्य के लिए जगत् मे सर्वाधिक प्रिय वस्तु उसका अपना जीवन होता है।[17] यह भी असम्भव नहीं है कि भीरु व्यक्ति गुरु अथवा प्रभु (स्वामी) के निर्देश के पालन करने अथवा प्रिया के अनुराग आदि के लिए जीवनहानि करने वाले दृप्त सिंह से न भिड़। इसके विपरीत उसके लिए दृप्त सिंह की उपस्थिति का ज्ञान होने पर जानबूझकर अपने आपको मृत्यु के मुख म धकेलना अपवाद ही होगा। इस प्रकार भीरु धार्मिक का गोदावरी कच्छकुञ्ज म अभ्रमण ही अधिक स्वाभाविक है, भ्रमण नहीं। अत इस हेतु को अनैकान्तिक कह सकना कठिन है।

(२) कदाचित् आचार्य मम्मट यह मानकर चलते हैं कि वह धार्मिक व्यक्ति भीरू स्वभाव का नहीं है स्वभाव ही से वह कुत्ते से डरता है, अथवा वह इतना वीर है कि दृप्त सिंह जैसी वस्तु से तनिक भी भयभीत नहीं होता। वस्तुस्थिति ऐसी प्रतीत नहीं होती। यदि वस्तुस्थिति ऐसी होती तो वह नायिका उससे पिण्ड छुड़ाने के लिए यह सूचना कदापि न देती कि वह कुत्ता *(जिससे वह डरा करता था)* उस दृप्त सिंह ने मार डाला है जो अब गोदावरीकच्छकुञ्ज म (जहाँ वह पुष्पचयनादि के लिए आया करता है) निवास करता है, क्योंकि वह इतना सब पता होने पर भी गोदावरीकच्छकुञ्ज म जाने से बाज नहीं आएगा और इस प्रकार नायिका के प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो पाएगी। वस्तुत वह नायिका उस धार्मिक व्यक्ति के भीरू स्वभाव तथा दृप्त सिंह की उपस्थिति की सूचना से जन्य प्रतिक्रिया के विषय मे सर्वथा असंदिग्ध प्रतीत होती है। कोई भी भीरु व्यक्ति जो एक कुत्ते तक के डर स भाग खड़ा होता है एवं दृप्त सिंह की उपस्थिति की सूचनामात्र से आतंकित हो उठेगा और उस स्थान पर फिर कभी भूल कर भी जाने का साहस नहीं करेगा। अतएव आचार्य मम्मट की अपेक्षा नैयायिक उपर्युद्धृत गाथा के परिप्रेक्ष्य को ठीक रूप म

समझते हैं। इस प्रकार वह हेतु विरुद्ध नहीं है।[17]

(3) एक भीरु व्यक्ति से इतनी अपेक्षा करना कठिन है कि वह अपने जीवन को जोखिम में डालकर दृप्त सिंह की उपस्थिति का निश्चय करने का साहस करेगा। दूसरे व्यक्ति के मुख से उसके विषय में सूचना प्राप्त कर लेने भर से ही वह भयभीत हो उठेगा। अतः यह अस्वाभाविक नहीं है कि वह भीरु धार्मिक उस नायिका की दृप्त सिंह की उपस्थिति की बात को सत्य मान ले। वह नायिका विश्वस्त है कि वह उसका विश्वास अवश्य करेगा, अन्यथा वह उससे ऐसी बात कहती ही नहीं। हमें पता है कि वह नायिका निश्चिततः चालाक है और जो वह कह रही है वह सर्वथा सफेद झूठ होगा, किन्तु हमारे पास यह मानने के लिए कोई आधार नहीं है कि वह धार्मिक उसके स्वभाव तथा अभिप्राय से भलीभाँति परिचित है ही। इस प्रकार उस धार्मिक की भीरु प्रकृति को दृष्टि में रखते हुए उस हेतु को असिद्ध मान लेना सरल नहीं है।

(4) काव्यात्मक अनुमान से समुपलब्ध ज्ञान का प्रमात्मक (प्रमा अर्थात् निश्चित अथवा सत्य ज्ञान से युक्त) होना अनिवार्य नहीं है, क्योंकि उसका प्रमुख उद्देश्य किसी वस्तु का प्रमात्मक ज्ञान नहीं प्रत्युत आनन्दात्मक अनुभूति प्रदान करना होता है। अतएव इस उद्देश्य की पूर्ति किसी हेत्वाभास के माध्यम से भी हो सकती है।[18]

उपर्युक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि उपरिनिर्दिष्ट अनुमिति प्रक्रिया के विरोध में आचार्य मम्मट द्वारा प्रदत्त युक्तियाँ सर्वथा निर्दुष्ट एवं मान्य नहीं हैं। नैयायिक अथवा अनुमितिवादी मत के अधिक समीप प्रतीत होते हैं।

आचार्य मम्मट ने व्यञ्जना-प्रतिपादन के प्रसंग में अधोलिखित पद्य भी

17. बृहदारण्यकोपनिषद् 2/4/5 "न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति। न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।"

18. वही द्रष्टव्य।

उद्धृत किया है और यह दिखलाया है कि व्यंग्यार्थ को अनुमेयार्थ मानने वाले नैयायिक भ्रान्त हैं—

> निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
> नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।
> मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
> वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥[19]

[तेरे स्तनतट का चन्दन बिल्कुल छूट गया है, अधर की लाली बिल्कुल पुछ गई है, आँखें किनारे से काजलरहित हैं, और यह तनु शरीर पुलकित है। अपने बान्धवजन की पीडा के आगम को न समझने वाली और झूठ बोलने वाली अरी दूती ! तू यहां से वापी (बावली) में नहाने गई थी, उस अधम (नायक) के पास थोड़े ही गई थी ?]

यहां "तू यहाँ से वापी में नहाने गई थी, अधम (नायक) के पास थोड़े ही गई थी" यह वाच्यार्थ है, और "तू यहां से उस अधम (नायक) के पास ही रमणार्थ गई थी" यह व्यंग्यार्थ है, जिसे नैयायिक अनुमेयार्थ मानते हैं। एक नैयायिक का इस प्रसंग में युक्तिप्रपञ्च निम्नलिखित होगा—

(1) प्रतिज्ञा : सा (दूती) तदन्तिकमेव रन्तुं गतासीत् ।
[वह (दूती) उस (नायक) के पास ही रमणार्थ गई थी ।]

(2) हेतु : तस्याः स्तनतटादीनां निःशेषच्युतचन्दनत्वादेः ।
[उसके स्तनतट आदि के बिल्कुल चन्दन छूट जाने आदि के कारण]

(3) दृष्टान्त : यत्र यत्र नार्यं स्तनतटादीनां निःशेषच्युतचन्दनत्वादिकं तत्र तत्र रमणजन्यम् ।
[जहाँ-जहाँ किसी नारी के स्तनतट आदि का बिल्कुल चन्दन छूटना आदि है वहां-वहां वह रमणजन्य है ।]

(4) उपनय : यत्र च तस्या दूत्याः स्तनतटादीनां निःशेषच्युतचन्दनत्वादिकम् ।
[और यहाँ उस दूती के स्तनतट आदि का बिल्कुल चन्दन छूट जाना आदि है ।]

19. अमरुशतक, 105

(5) निगमन - तस्मात् सा तदन्तिकमेव रन्तुं गतासीत् ।
[अतः वह (दूती) उसी (अधम नायक) के पास रमणार्थ गई थी।]

आचार्य मम्मट का कथन है कि नायक के साथ दूती के रमण का अनुमान करने के लिए प्रदत्त हेतु अनैकान्तिक हैं क्योंकि उपभोग ही में वे प्रतिबद्ध (व्याप्त) नहीं हैं, वे अन्य कारणों से भी सम्भव हैं, जैसे कि इसी पद्य में वे स्नान के कार्य रूप में कहे गए हैं (मम्मट अन्य सम्भव कारणों का उल्लेख नहीं करते)। किन्तु हमारा विश्वास है कि कोई भी सहृदय अधोलिखित बातों को ध्यान में रखते हुए उन्हें स्नान के कार्य नहीं मान सकता—

(1) उस दूती के स्तनतटों से निःशेषतः चन्दनच्यवन नायक द्वारा प्रेम-निर्भर प्रगाढ आलिंगन आदि ही के कारण सम्भव है, स्नान के कारण नहीं, क्योंकि स्नान की स्थिति में केवल तटभाग ही से नहीं अपितु समग्र स्तनों से चन्दन छूटता। टीकाकारों ने यह मानकर स्तनतटों से चन्दनच्यवनत्व को स्नान का कार्य स्वीकार किया है कि वापी में बहुत-से युवकों की उपस्थिति के कारण लज्जावश वह दूती अपने पूरे वक्षों का नहीं अपितु केवल तटभागों ही का मार्जन कर सकी।[20] यह केवल उनकी कल्पनामात्र का विलास है, कवि ने ऐसा कुछ भी नहीं बतलाया है, अतः उसे प्रामाणिक मानना कठिन है।

(2) उसके अधर की लाली का बिल्कुल पुछ जाना केवल नायक के प्रेम-निर्भर चुम्बनों ही का फल हो सकता है। उसे स्नान का परिणाम नहीं कहा जा सकता क्योंकि स्नान की स्थिति में उसके अधरोष्ठ की नैसर्गिक लाली अवश्य बनी रहती। टीकाकारों के मत में उसके अधर की लाली पान (ताम्बूल) के सेवन के कारण थी, जो स्नान व

20. द्रष्टव्य वामनाचार्य झलकीकर की 'बालबोधिनी' काव्यप्रकाश, पृ० 20; श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्य की 'सारबोधिनी' (स० श्रीनिवास शर्मा तथा ... पाठक, श्रीगंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, प्रयाग, 1976), पृ० 14।

21. द्रष्टव्य काव्यप्रकाश पर वामनाचार्य झलकीकर की 'बालबोधिनी', पृ० 20; श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्य की 'सारबोधिनी', पृ० 14-15, 'नागेश्वरी' (स० हरिशंकर शर्मा, वाराणसी : काशी संस्कृत ग्रन्थमाला 49, द्वितीय संस्करण, 1967), पृ० 6।

के कारण अधिक जल के सम्बन्ध से धुल गई।[21] कवि ने ऐसा कोई संकेत नहीं दिया है कि दूती पान का सेवन भी करती थी, अतः यह टीकाकारों की कल्पना ही है। लाली सम्भवतः नैसर्गिक ही रही होगी, जो नायक द्वारा अधरपान से विवर्ण हो गई होगी। कामशास्त्र के आचार्यों ने प्रिया के अधर के चुम्बन का ही विधान किया है ऊपर के ओष्ठ का नहीं[22]—जो सामान्यतः अधरपान नाम से अभिहित किया जाता है। अतः उस दूती के अधर की लाली का बिल्कुल पुछ जाना रमण का हेतु है।

(3) उसकी आँखों के किनारों का (दूरम्)[23] काजल नायक द्वारा चुम्बन करने से छूटा होगा क्योंकि काव्यशास्त्र के आचार्यों ने प्रिया के नेत्रों के प्रान्तभाग के चुम्बन का आदेश दिया है।[24] टीकाकारों ने इसे यह मानकर स्नान का हेतु स्वीकार किया है कि स्नान के समय नेत्रों को बन्द रखने के कारण अन्दर का काजल जल के सम्पर्क के अभाव में नहीं छूटा। इस तर्क में भी कोई दम नहीं लगता क्योंकि स्नानावधि में व्यक्ति अपनी आँखों को मलेगा और भलीभाँति धोएगा। इस प्रकार नेत्रों के शेष भाग से भी काजल पुछ ही जाएगा।

(4) उसके तनु शरीर का पुलक भी स्नान का परिणाम नहीं माना जा सकता। यदि यह मान भी लिया जाए कि उस वापी का जल जिसमें

22. द्रष्टव्य काव्यप्रकाश पर वामनाचार्य रामभट्ट झलकीकर की 'बालबोधिनी', पृ० 20, श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्य की 'सारबोधिनी', पृ० 14, वात्स्यायन, कामसूत्र, 3/3 11-12, कालिदास कुमारसम्भव VIII 9।

23 विद्याचक्रवर्ती ने अपनी टीका 'सम्प्रदायविमर्शिनी' (काव्यप्रकाश, स० रामचन्द्र द्विवेदी, दिल्ली मोतीलाल बनारसीदास, भाग 1 1966, पृ० 11) में, 'दूरम्' का अर्थ 'अत्यन्त' किया है, किन्तु अधिक टीकाकारों ने इसका अर्थ 'प्रान्तभाग' किया है।

24 द्रष्टव्य काव्यप्रकाश पर वामनाचार्य रामभट्ट झलकीकर की 'बालबोधिनी', पृ० 20, वैद्यनाथ तत्सत् कृत 'उदाहरणचन्द्रिका' (गोविन्दकृत 'काव्यप्रदीप', स० दुर्गाप्रसाद तथा वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर, बम्बई काव्यमाला 24, तृतीय संस्करण, 1933, पृ० 12 पर उद्धृत) श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्य 'सारबोधिनी', पृ० 14, नागेश्वरी, पृ० 6 वात्स्यायन पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, 2/3/4 माघ शिशुपालवध, 10/54।

उसने स्नान किया बहुत शीतल था तो भी वापी से नायिका के घर तक आने में उसके शरीर में पर्याप्त गर्मी आ जानी चाहिए थी और शैत्य के कारण पुलक नहीं होना चाहिए था (यह ध्यातव्य है कि कवि ने इस बात का बिल्कुल संकेत नहीं किया है कि उस समय शीतकाल था !)। उसका पुलक उसके द्वारा अनुभूत गहन रमणास्वाद से जनित है, जिसका विचार-भर उसे अभी भी सिहरन पैदा कर रहा है।[25]

(5) नायिका द्वारा उसे झूठ बोलने वाली (मिथ्यावादिनि) तथा बान्धवजन (जो यहाँ नायिका स्वयं ही है) की पीडा के आगम को न समझने वाली (बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे) कह कर रुताडना स्पष्टतः यह ध्वनित करता है कि उसने नायिका से झूठ बोला है कि वह वहाँ से वापी में स्नान करने गई थी, नायक के पास नहीं। नायिका इस सफेद झूठ को ताड गई है। इसी से उसे इस प्रकार रुताड रही है।

आचार्य मम्मट के मत में व्यञ्जनावादी नायक के लिए प्रयुक्त 'अधम' पद की सहायता से चन्दनच्युति आदि को व्यञ्जक मानता है और रमणरूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति करता है जबकि अधमत्व प्रत्यक्ष अथवा अनुमान आदि प्रमाणों से सिद्ध न होने से अनुमान द्वारा साध्य की सिद्धि सम्भव नहीं है।[26] ध्यान से देखा जाए तो आचार्य मम्मट का यह तर्क भी ठोस भूमि स्थित नहीं है। वस्तुतः अनुमानवादी अनुमेयार्थ की प्रतीति के लिए 'मिथ्यावादिनि,' 'बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे' तथा 'अधमस्य' इन तीन पदों की सहायता ले सकता है। ये उपर्युक्त लक्षणों का रमण के हेतु मानने में सहायक हैं। जहाँ तक नायक के अधमत्व का प्रश्न है इस विषय में तो केवल नायिका ही प्रमाण मानी जा सकती है। यदि वह नायक के अधमत्व की सिद्धि हेतु प्रमाण प्रस्तुत कर देती तो निःसन्देह उपर्युद्धृत पद्य का काव्या

25. द्रष्टव्य वैद्यनाथ तत्सत् कृत 'उदाहरणचन्द्रिका' (गोविन्दकृत, काव्यप्रदीप, के संस्करण में पृ० 12 के पादटिप्पण में उद्धृत), वामनाचार्य रामभट्ट झलकीकर कृत 'बालबोधिनी', पृ० 20 (पुलकश्च तत्रानुभूतरमणरसस्मरणात्)।

26 काव्यप्रकाश पृ० 256 "व्यक्तिवादिना चाधमपदसहायानामेषां व्यञ्जकत्वमुक्तम्। न चात्राधमत्वं प्रमाणप्रतिपन्नमिति कथमनुमानम्। एवंविधार्थस्यैवंविधेऽर्थ उपपत्त्यनपेक्षत्वेऽपि प्रकाशने इति व्यक्तिवादिनः पुनरुक्त अनुकल्प।" देखिए वही, पृ० 20 भी "अत्र तदन्तिकमेव रन्तुं गतासीति प्राधान्येनाधमपदेन व्यज्यते।"

त्मक प्रभाव या तो कम हो जाता या सर्वथा समाप्त हो जाता। उस नायक अथवा दूती के प्रच्छन्न प्रणय का निश्चित ज्ञान रहा होगा, अन्यथा वह नायक को अधम और दूती को झूठ बोलने वाली तथा अपने बान्धवजन की पीड़ा को न समझने वाली न कहती। अनुमानवादी तथा व्यञ्जनावादी दोनों ही को नायक के अधमत्व के विषय में नायिका पर ही विश्वास करना होगा। वह जानती है कि उसका नायक उसे छोड़कर उसकी दूती से लुक-छिपकर रमण करने के लिए लालायित रहता है, अतः वह अधम नहीं तो और क्या है? यदि नायिका पर विश्वास न किया जाए तो व्यञ्जनावादी के पास भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए कोई भी ठोस आधार नहीं रह जाएगा। अपि च, हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि व्यञ्जना की भाँति काव्यात्मक अनुमान भी प्रकरण आदि का ध्यान में रखे बिना कार्य नहीं कर सकता। काव्यानुमान एक असामान्य अनुमान होता है। तार्किक अनुमान से केवल बोध होता है, जबकि काव्यानुमान आनन्दानुभूति का जनक होता है।[27] काव्यानुमान में अनुमेयार्थ के सत्यासत्य ज्ञान के विषय में अधिक माथापच्ची नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह चाहे सत्य हो या असत्य दोनों ही स्थितियों में आनन्दानुभूति (चमत्कार) का जनक होता है। सच पूछा जाए तो अयथार्थ अथवा असत्य अनुमेय यथार्थ अथवा सत्य अनुमेय की अपेक्षा अधिक चमत्कारजनक होगा,[28] अतः यह आवश्यक नहीं होता कि

27 द्रष्टव्य महिमभट्टकृत 'व्यक्तिविवेक' पर रुय्यकविरचित टीका (सं० रेवाप्रसाद द्विवेदी वाराणसी काशी संस्कृत ग्रन्थमाला 121, 1964), प्रथम विमर्श पृ० 69 "काव्यानुमानं तर्कानुमानविलक्षणं काव्यस्य चमत्कारसारत्वात्। व्याप्त्यनुमानेऽपि चमत्कार एव विश्रान्तेः। तर्कानुमानं तु वस्तुनः सत्यत्वे प्रवृत्तं तत्सत्यत्वमनुद्वहति। काव्ये लोकोत्तरत्वात् सहृदयानामधिकाराद् न व्याप्त्यादिपूर्णेनानुमानप्रयासं समर्पयतीति।' श्रीशङ्कुक काव्यानुमान की इस विलक्षण प्रवृत्ति का संकेत रस-प्रसंग में पहले ही कर चुके थे। (द्रष्टव्य 'काव्यप्रकाश', पृ० 93 'तथा तत् सम्यक्प्रमादे स्यात् अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः स्थायित्वेन सम्भाव्यमानोऽपि रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्रीशङ्कुकः।")।

28 द्रष्टव्य महिमभट्टकृत 'व्यक्तिविवेक' पर रुय्यकविरचित टीका, प्रथम विमर्श, पृ०76 "अत्र प्रतीतमात्रसारत्वात् काव्यस्यानुमेयस्य वास्तवावास्तवत्वमप्रयोजकम्। उभयथा चमत्कारप्रतीतिनिष्पत्तावेवार्थक्रियासिद्धेः। प्रत्युतावास्तवत्वे यथा निष्पत्तिर्न तथा वास्तवत्वे इति काव्यानुमितस्यानुमानार्थविलक्षणोऽनुमानवादिनोऽयमभिप्रायः।"

हेतु सदैव सद्धेतु ही हो, हेत्वाभास भी काव्यात्मक अनुमयार्थ प्रदान करने में सहायक होता है। तर्कशास्त्र का अनुमान प्रमात्मक (प्रमा अर्थात् निश्चित या सत्य ज्ञान से युक्त) होता है जबकि काव्यानुमान के लिए यह आवश्यक नहीं होता। व्यञ्जनावादी अनुमान से अपनी व्यञ्जना को यह कहकर पृथक् मान सकता है कि अनुमान में हेतु सदैव प्रतीयमान से व्याप्ति (साहचर्यसम्बन्ध) द्वारा सम्बद्ध होता है, जबकि व्यञ्जक ऐसा नहीं होता, क्योंकि वह उससे केवल सामान्य रूप से सम्बद्ध होता है और तत्फल-स्वरूप वह हमें अनेक प्रतीयमान प्रदान करने में समर्थ होता है, किन्तु व्यञ्जनावादियों द्वारा व्यञ्जक का विवेचन ऐसा किया गया है कि उससे कोई भी व्यक्ति यही निष्कर्ष निकालेगा कि व्यञ्जक तथा प्रतीयमान में एक व्याप्ति (साहचर्यसम्बन्ध) होती है वक्ता, बोद्धव्य, काकु आदि से सम्बद्ध व्यञ्जक एक निश्चित प्रतीयमान अर्थ प्रदान करता है[29] और इस प्रकार वह एक हेतु की प्रकृति से युक्त होता है। अतः इस प्रकार के काव्यानुमान में व्यञ्जना ग्राह्य हो सकती है। जैसा कि उपरिगत पंक्तियों से स्पष्ट है, आचार्य मम्मट की 'भम धम्मिअ' तथा 'निःशेषच्युतचन्दनम्' आदि पद्यों के प्रसङ्ग में अनुमिति सिद्धान्त की समालोचना सर्वांशतः न्याय्य प्रतीत नहीं होती; उनके उसका खण्डनार्थ के लिए किया गया आयास परिश्रम ही अधिक झलकता है।

अनुमानवादियों के अनुसार अर्थ दो प्रकार का होता है—वाच्य तथा अनुमेय, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य उनके द्वारा अनुमेय ही में अन्तर्भूत कर लिया गया है। किसी शब्द अथवा वाक्य के श्रवण के तुरन्त पश्चात् समझा गया अर्थ वाच्य अथवा मुख्य होता है, और वह अर्थ जिसके बोधनार्थ प्रयास की

द्रष्टव्य स्वयं महिमभट्ट के शब्द, पृ० 78. "[illegible] सर्वेषां [illegible] निरवकाश एव। काव्यविषये च [illegible] [illegible] निरवकाशो [illegible] [illegible] [illegible] इति।

[illegible] इति।"

29 द्रष्टव्य स्वयं आनन्दवर्धन के शब्द ध्वन्यालोक, 3/33 पर वृत्ति (भाग 2) पृ० 1003 "[illegible]।"

आवश्यकता होती है गौण तथा अनुमेय होता है। अनुमेयार्थ की प्रतीति किसी वाच्य अथवा अनुमित अर्थ के माध्यम से होती है और वह त्रिविध होता है—वस्तु, अलंकार तथा रसादि, जिनमें पहले दो वाच्य भी हो सकते हैं, किन्तु अंतिम अर्थात् रसादि सर्वथा अनुमेयार्थ ही होता है। अर्थ का विभाजन पद तथा वाक्य के अनुसार भी किया गया है। पदार्थ निरंश (निरवयव) होने के कारण साध्यसाधनभाव (साधन अर्थात् हेतु तथा साध्य के मध्य सम्बन्ध) से रहित होने से सदैव वाच्य होता है, कदापि अनुमेय नहीं। वाक्यार्थ द्विविध होता है—वाच्य तथा अनुमेय। अनुमेय की समुपलब्धि वाच्य के माध्यम से होती है, अतः वह सदैव प्रतीयमान होता है। किसी पद का वाच्यार्थ अनुमेयार्थ का हेतु होता है और वाक्य का मुख्यार्थ (अन्वय) उसके अनुमेयार्थ का। इस प्रकार अनुमानवादी नैयायिक यह मानते हैं कि वाक्यार्थ में पदार्थ से भिन्न अपना वैशिष्ट्य होता है।

यहाँ न्याय के शाब्दबोधविषयक सिद्धान्त का संकेत करना अनुचित न होगा। न्याय के अनुसार पद में शक्ति तथा लक्षणा होती है, जबकि वाक्य में अन्वय तथा तात्पर्य। किसी पद का वाच्यार्थ वह होता है जो उसे अपने बोध्य अर्थ से प्रत्यक्षतया सम्बद्ध कर देता है, नैयायिकों ने इस विशिष्ट सम्बन्ध को शक्ति (सामर्थ्य), संकेत (अभीष्ट अभिप्राय), इच्छा (अभिलाषा), अथवा समय (परम्परया स्थापित परस्पर सम्बन्ध) आदि नामों से अभिहित किया है। यह प्रायः मिल की अभिधान (Denotation) की धारणा अथवा फ्रेगे की बेडेउटुङ्क (Bedeutung) से मिलता जुलता है। पद तथा उसकी शक्ति के मध्य माना गया सम्बन्ध केवल ऐच्छिक (arbitrary) है। लक्ष्यार्थ असामान्य प्रसंगविशेषगत अर्थ होता है, जो प्रयोगप्रवाह, अथवा कारण-कार्यभाव, सादृश्य आदि सम्बन्ध से गृहीत, मुख्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ होता है। वक्ता के तात्पर्य की अनुपपत्ति की स्थिति में लक्षणा का आश्रय लिया जाता है।[30] वक्ता किसी तात्पर्यविशेष के सम्प्रेषणार्थ शब्दों का प्रयोग

30 द्रष्टव्य विश्वनाथ पंचानन भट्टाचार्य : न्यायसिद्धान्तमुक्तावली (सं० हरिराम शुक्ल, वाराणसी चौखम्बा विद्याभवन, तृतीय संस्करण, 1972) शब्दखण्ड, पृ० 285 "लक्षणा शक्यसम्बन्धः तात्पर्यानुपपत्तितः।" प्रायः आलंकारिकों ने लक्षणाश्रयण के कारण का निर्देश न करते हुए लक्षणा प्रक्रिया ही का विवेचन किया है। उदाहरणार्थ आचार्य मम्मटकृत लक्षणा-लक्षण है—

करता है। यदि उन शब्दों से साक्षात्सङ्केतित (शक्य, मुख्य अथवा वाच्य) अर्थ से वह तात्पर्य अर्थात् अभीप्सित अर्थ नहीं आ पाता तो उसके ग्रहणार्थ श्रोता आदि द्वारा भक्ति, समय, अभिधा आदि नामों से अभिधेय शब्दव्यापार को छोड़कर लक्षणा नाम्नी शब्दवृत्ति से रूढि (प्रयोगप्रवाह) अथवा प्रयोजनविशेष के कारण वाच्यार्थ से सम्बद्ध तात्पर्यभूत अन्य अर्थ का ग्रहण कर लिया जाता है। उदाहरणार्थ 'गङ्गायां घोषः' (गङ्गा के प्रवाह में, अथवा उसके ऊपर, घोष है) में अधिकरणवाची प्रत्यय 'याम्' शब्दशः अधिकरण का अर्थ प्रदान करता है, किन्तु चूंकि घोष की स्थिति गंगा के प्रवाह में, अथवा उसके ऊपर असम्भव है, हम 'गंगायाम्' पद की सप्तमी विभक्ति का सङ्केत गंगातट की ओर मानते हैं। इस प्रकार 'गंगायां घोषः' का अर्थ हो जाता है—'गंगातट पर घोष है।' लक्षणा का बीज तात्पर्यानुपपत्ति ही मानना चाहिए, अन्वयानुपपत्ति नहीं, अन्यथा 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' (कौओं, दही के उपघातक तत्त्वों से दही की रक्षा करो) आदि वाक्यों में, जहाँ अन्वयानुपपत्ति का अभाव है, लक्षणा का उत्थान ही नहीं होगा। तात्पर्यानुपपत्ति ही में अन्वयानुपपत्ति भी गतार्थ हो जाती है।

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया॥
(काव्यप्रकाश 2/9)

अन्य आचार्यों ने भी प्रायः इसी प्रकार का समर्थन किया है। यथा विश्वनाथ साहित्यदर्पण 2/5, हेमचन्द्र : काव्यानुशासन (सं० रसिकलाल छोटालाल पारिख तथा वी० एम० कुलकर्णी बम्बई : श्रीमहावीर जैन विद्यालय, द्वितीय संस्करण, 1964) पृ० 66। यहाँ 'मुख्यार्थबाधे' में 'बाध' का आशय माणिक्यचन्द्र आदि ने अनुपपत्ति तथा अनुपयोग माना है (द्रष्टव्य काव्यप्रकाश संकेत पुणे आनन्दाश्रम ग्रन्थावलि, ग्रन्थांक 89, 1921, पृ० 16 : मुख्यार्थस्यानुपपत्तेरनुपयोगाच्च प्रत्यक्षादिप्रमाणेन बाधे मुख्यार्थेन सह) जो अनुचित है क्योंकि 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' (कौआ, अर्थात् कौओं के साथ साथ दही खराब करने वाले सभी प्राणियों से दही की रक्षा करो) आदि उपादान अथवा अजहत्स्वार्था लक्षणा के उदाहरणों में मुख्यार्थ की अनुपपत्ति तथा अनुपयोग नहीं होता। वस्तुतः 'बाध' का अभिप्राय यहाँ वक्तृतात्पर्याविषयत्व (वक्ता के तात्पर्य का विषय न होना) लिया जाना चाहिए।

तात्पर्यानुपपत्ति ही को लक्षणा का बीज मानना चाहिए, अन्वयानुपपत्ति को नहीं। अन्वयानुपपत्ति की स्थिति ही में लक्षणा मानने पर 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' आदि वाक्यों में लक्षणा का उत्थान ही नहीं होगा, क्योंकि यहाँ अन्वय भी अभीष्ट है।

वाक्य में अन्वय तथा तात्पर्य होता है, शक्ति अथवा लक्षणा नहीं। अन्वय किसी वाक्य का शाब्दिक (literal) अर्थ होता है। कोई वाक्य शाब्दिक अर्थ की अपेक्षा कोई भिन्न अर्थ प्रकरण आदि से नियन्त्रित वक्ता के अभिप्राय के कारण प्रदान करता है, अतः उसे तात्पर्य (अभीप्सित अर्थ अथवा अभिप्राय) कहा जाता है। वाक्यार्थ पदव्यक्तियों की शक्ति तथा लक्षणा के सश्लेषण का परिणाम होता है और इस प्रकार वह स्वतन्त्र रूप से विचार किए जाने पर पदव्यक्तियों का फल होता है। वाक्य का अन्वय अथवा शाब्दिक अर्थ पदव्यक्तियों की शक्ति की उपज है; और तात्पर्य पद-व्यक्तियों की लक्षणा की। नैयायिकों ने तात्पर्य को लक्षणा का मूल माना है, जिसका अभिप्राय यही होता है कि वक्ता द्वारा अभीष्ट अर्थ के पद के मुख्यार्थ द्वारा प्रदान न किए जा सकने की स्थिति में लक्षणा का आश्रयण किया जाता है। इसी प्रकार जब अन्वय अर्थात् वाक्य का शाब्दिक अर्थ वक्ता के अभीष्ट अर्थ को प्रदान करने में असमर्थ रहता है तो तात्पर्य की शरण लेनी पड़ती है।

तात्पर्य की धारणा न्याय से पूर्व अभिहितान्वयवादी मीमांसकों में भी

1. द्रष्टव्य नागेशभट्ट वैयाकरणसिद्धान्तपरमलघुमञ्जूषा (स० कपिलदेव शास्त्री, कुरुक्षेत्र: कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1975), पृ० 58 : "वस्तुतः तात्पर्यानुपपत्तिप्रतिसन्धानमेव तद्बीजम्। अन्यथा 'गङ्गायां घोष' इत्यादौ 'घोष' आदिपदे मकरादिलक्षणापत्तिः, तावताप्यन्वयानुपपत्तिपरिहारात्। 'गङ्गायां पापी गच्छति' इत्यादौ 'गङ्गा'—पदस्य नरके लक्षणापत्तेश्च। अस्माकं तु मुख्यार्थबाधावच्छिन्न-तात्पर्ये तात्पर्यमपि दोष.। नत्र द्रष्टव्या वाच विसृजेत् इत्यत्र अन्वयसम्भवेऽपि तात्पर्यानुपपत्त्यैव लक्षणा स्वीकारात्।" धर्मराजाध्वरीन्द्र, वेदान्तपरिभाषा (स० पञ्चानन शास्त्री मुसलगावकर, वाराणसी : विद्याभवन संस्कृत-ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 100, प्रथम संस्करण, संवत् 2020), आगमपरिच्छेद, पृ० 215 : "लक्षणाबीजं तु तात्पर्यानुपपत्तिरेव न त्वन्वयानुपपत्तिः। 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यत्र अन्वयानुपपत्तेरभावात्। 'गङ्गायां घोष' इत्यादौ तात्पर्यानुपपत्तेरपि सम्भवात्।" पण्डितराज जगन्नाथ : रसगङ्गाधर (स० मदनमोहन झा, वाराणसी ; विद्याभवन संस्कृत-ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 11, द्वितीय संस्करण, भाग 2, 1969), द्वितीय आनन, पृ० 162 : "तस्याश्चार्थोऽस्माकन्तु मुख्यार्थविच्छेदके तात्पर्यविषयान्वयिता-वच्छेदकत्वस्य अभावो न लक्षणम्। अन्यतावच्छेदकरूपेण भासमानस्य स्वीकारात्। किं तु तात्पर्यविषयान्वये मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेण मुख्यार्थप्रतियोगिकतया अभावो बहिर्भूयोऽनयोरन्यतरत्व तत्त्वम्। मुख्यार्थान्वयानुपपत्ते : तदन्वये तु 'काकेभ्यो दधि

मिलती है, किन्तु दोनों में अन्तर है। कुमारिलभट्ट तथा उनके अनुयायी पार्थसारथिमिश्र आदि मीमांसक 'अभिहितान्वयवादी' हैं, जबकि इसके विपरीत प्रभाकर तथा उनके अनुयायी शालिकनाथमिश्र आदि 'अन्विताभिधानवादी' कहे जाते हैं। आचार्य कुमारिल के अनुसार पदों द्वारा अभिधावृत्ति से सामान्य अर्थात् जाति का बोध होता है और विशेष अर्थात् व्यक्ति का बोध लक्षणा द्वारा करना होता है। व्यक्ति ही प्रवृत्ति निवृत्ति रूप क्रिया का साधन होने के कारण वक्ता के तात्पर्य का आधार है। वे पदों से पृथक् रूप में वाक्य को कोई स्वतन्त्र स्थान प्रदान नहीं करते और इस बात का खण्डन करते हैं कि वाक्य तात्पर्य नामक एक नए व्यापार का वाहक है। यदि तात्पर्य एक पृथक् शक्ति तथा व्यापार है तो वह पदों में होगा, एक सर्वथा पृथक् एवं भिन्न तत्त्व के रूप में वाक्य में नहीं। उनकी दृष्टि से तात्पर्य को अभिधा तथा लक्षणा से अतिरिक्त एक नवीन व्यापार मानना अनुचित है। तात्पर्य तथा लक्षणावृत्ति का कार्य समानान्तर है, वे साथ साथ काम करते हैं। लक्षणावृत्ति तात्पर्य से सहकृत एवं उपकृत है, तात्पर्य उससे भिन्न कोई व्यापारविशेष नहीं। भाट्ट मत में हमें वाच्यार्थ का क्षेत्र इतना विस्तृत करना होता है कि उसमें वक्ता का तात्पर्य (अभिप्राय) आ सके। जब मुख्यार्थ तथा वक्ता के तात्पर्य में असंगति होती है तो लक्षणा का आश्रयण किया जाता है। अभिधा से गृहीत सामान्य अर्थ से वक्ता का तात्पर्य नहीं आ पाता, क्योंकि वह तो प्रवृत्ति निवृत्ति रूप क्रिया के साधनभूत व्यक्ति रूप अर्थ से ही आ सकता है, अतः व्यक्तिरूप अर्थ के ग्रहणार्थ लक्षणा की शरण लेनी पड़ती है। पार्थसारथिमिश्र द्वारा तात्पर्य को अभिधातिरिक्त व्यापार-

तात्पर्यम्' इत्यत्र लक्षणाप्रसङ्ग स्यात् ।" तात्पर्यानुपपत्ति ही न अन्वयानुपपत्ति भी गतार्थ हो जाती है।

न्यायग्रन्थों में 'तात्पर्य' का लक्षण 'वक्ता की इच्छा' के रूप में किया गया है, यथा विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, शब्दखण्ड, पृ० 315; "वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यम् ।" परन्तु जैसा कि न्यायग्रन्थों में 'तात्पर्य' के स्वरूप-विवेचन से सुस्पष्ट है, 'तात्पर्य' वक्ता की इच्छामात्र नहीं अपितु उसके द्वारा अभीप्सित अर्थ है। द्रष्टव्य वही शब्दखण्ड, पृ० 315-16 सुरेन्द्र शिवदास बार्लिंगे : "Meaning, Use and Intention", *Indian Philosophical Review*, वं० 1, 1971 ।

विशेष मानना अनुचित है।[31] कुमारिल तथा पार्थसारथिमिश्र के प्रतिपादन से स्पष्ट है कि वाक्यार्थों का तात्पर्य लक्षणा से सम्प्रेषित होता है। वर्धमान के अनुसार भाट्ट मत में पदों का तात्पर्य (अभिप्राय) वाक्य के अन्वय में होता है, यह तात्पर्य स्वयं अथवा अभिधावृत्ति से पूर्ण नहीं होता; इसके लिए अन्य व्यापार की अपेक्षा होती है, जिसे लक्षणा कहा जाता है। अभिधा तथा लक्षणा में कोई विरोध नहीं होता, क्योंकि अभिधा द्वारा बोधय पदार्थों की उपस्थिति (लक्षणा से बोध्य) अन्वय के विशेषरूप में होती है।[32] इसके विपरीत, प्रभाकर तथा उनके अनुयायी अन्विताभिधानवादी आचार्य अन्वय के लिए अभिधा को समर्थ मानते हैं। भाट्ट मत में पद से लेकर वाक्य तक की अर्थयात्रा के तीन सोपान हैं—मुख्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा वाक्यार्थ।

संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने आचार्य कुमारिल की तात्पर्यविषयक मान्यता का विवेचन उनके ग्रन्थ के अध्ययन के आधार पर नहीं प्रत्युत सुनी-सुनाई बातों तथा कल्पना के सहारे किया है। आचार्य मम्मट का अभिहितान्वयवाद का ज्ञान सम्भवतः अभिनवगुप्त से गृहीत है, जो स्वयं जयन्तभट्ट के सिद्धान्त से मेल खाता है। उनके द्वारा कुमारिल [redacted] अभिहितान्वयवाद का सच्चा प्रतिनिधित्व नहीं हुआ है। उनकी संक्षिप्त उक्तियों से सिद्धान्त का गूढ़ तत्त्व स्फुट नहीं हो पाता। उनके अनुसार वाक्यार्थ तात्पर्यार्थ है। उनका यह भी कहना है कि वाक्यार्थ पदार्थ नहीं है।[33] तात्पर्य के प्रसंग में

31. द्रष्टव्य श्लोकवार्तिक 7/230 की टीका (न्यायरत्नाकर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज), पृ० 909. "अतो यद्यप्यभिधाव्यापारः पदार्थेष्वेव पर्यवसितस्तथापि तात्पर्यव्यापृतेः स्वर्यवसितत्वात्।"

32. वर्धमान ने भाट्ट मत का संकेत तथा व्याख्यान से क्रमशः खण्डन किया है। द्रष्टव्य न्यायकुसुमाञ्जलिप्रकाश (चौखम्बा संस्कृत सीरीज, 3), पृ० 76. "ननु अन्वये पदानां तात्पर्यं सन्निवर्हिता च वृत्तिः। न च स्वार्थसम्बन्धिनी स्वान्वये तात्पर्यं लक्षणा, अन्वयविशेषणतया पदार्थोपस्थितेश्च न वृत्तिद्वयविरोध इति वाच्यम्।"

33. द्रष्टव्य काव्यप्रकाश, पृ० 26: "आकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिवशाद्वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीत्यभिहितान्वयवादिनां मतम्।"; पृ० 22। - "अन्विताभिधानेऽभिहितान्वये पदार्थान्तरमात्रेणान्वितान्वितानाभिधाने अन्वितविशेषस्त्ववाच्य एव इत्युभयनयेऽप्यपदार्थ एव वाक्यार्थः।
पृ० 227-28: "उपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यं न तु प्रतीतमात्रे ...।"

लक्षणा के व्यापार के विषय में वे मौन हैं। आचार्य मम्मट सम्भवतः न्याय-सिद्धान्त को अभिहितान्वयवाद के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इस त्रुटि का अनुसरण सभी परवर्ती आलङ्कारिकों ने किया है। आचार्य मम्मट ने आचार्य कुमारिल के इस मत का खण्डन किया है कि अभिधा से सामान्य (जाति) का बोध तथा विशेष (व्यक्ति) का बोध लक्षणा द्वारा होता है। कुमारिल के इस मत का समर्थन मुकुलभट्ट ने भी किया है।[34] इसके खण्डन में आचार्य मम्मट का कथन है कि व्यक्ति का बोध लक्षणा से नहीं अर्थापत्ति से होता है।[35] आचार्य मम्मट के टीकाकार तो स्पष्टतः भ्रान्त हैं। गोविन्द ठक्कुर का स्पष्ट कथन है कि अभिहितान्वयवाद का वर्णन न्याय आदि नयों में भी उपलब्ध है[36] और नागेश के अनुसार 'आदि' शब्द का संकेत भाट्टमीमांसकों की ओर है।[37] वस्तुतः अभिहितान्वयवाद आचार्य कुमारिल की उपज्ञा है, जिसका प्राच्य तथा नव्य नैयायिकों ने खण्डन किया है। आचार्य विश्वनाथ ने तो आश्चर्यातीत भ्रम को जन्म दिया है। उनके अनुसार पदार्थों के अन्वय अर्थात् वाक्यार्थ के बोधन के लिए अभिहितान्वयवादियों ने तात्पर्य नाम्नी वृत्ति मानी है, उससे प्राप्त अर्थ को तात्पर्यार्थ तथा उस तात्पर्यार्थ के बोधक को वाक्य कहते हैं। उनकी दृष्टि में इस

34 द्रष्टव्य अभिधावृत्तमातृका (वृत्तिसमुच्चय सं० ब्रह्ममित्र अवस्थी तथा इन्दु अवस्थी, दिल्ली : इन्दु प्रकाशन, 1977), पृ० 4-5, विशेषतः पृ० 5 : "जातिस्तु व्यक्तिमन्तरेण पारमार्थिकत्वेन न प्रतिपद्यत इति शब्दव्यापारविरतावपि जातिसामर्थ्यादेव अनया व्यक्तिराक्षिप्यते तां नाम्ना माहतिकी।"

35. अवलोकनीय काव्यप्रकाश, पृ० 44-45 "'गौरनुबन्ध्यः' इत्यादौ श्रुतिचोदितमनुबन्धनं कथं मे स्यादिति जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते न तु शब्देनाभिधीयते 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे' इति न्यायादित्युपादानलक्षणा तु नोदाहर्तव्या। न ह्यत्र प्रयोजनमस्ति न वा रूढिरियम्। व्यक्त्यविनाभावित्वात् जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते। यथा क्रियतामित्यत्र कर्ता। कुर्वित्यत्र कर्म। प्रविश पिण्डीमित्यादौ गृहं भक्षयेत्यादि च।
'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यत्र च रात्रिभोजनं न लक्ष्यते श्रुतार्थापत्तेरर्थापत्तेर्वा तस्य विषयत्वात्।"

36. द्रष्टव्य उनका काव्यप्रदीप पृ० 17 : "न्यायचिन्तामण्यादिषु।"

37 द्रष्टव्य उनकी काव्यप्रकाश पर 'उद्द्योत' नाम्नी टीका, पृ० 24 : "आदिना भाट्टमीमांसकाः।" द्रष्टव्य गोविन्दकृत 'काव्यप्रदीप' पर वैद्यनाथ तत्सत् की 'प्रभा' पृ० 17 : "आदिनावेदान्तिभाट्टनयग्रहः।"

व्यापार का स्थान वाक्यार्थ है।[38] वस्तुतः कुमारिल से वैमत्य रखने वाले आचार्य जयन्तभट्ट की यह स्थिति है। आलङ्कारिकों में कुमारिल के अभिहितान्वयवाद के विषय में ऐसी भ्रान्त धारणा प्रायः पारम्परिक हो गई। न्यायमत तथा कुमारिल-मत में आलोचीन रूप से भ्रान्ति हो गई।

जयन्तभट्ट के अनुसार मुख्यार्थ के उपरान्त अभिधाव्यापार विरत हो जाता है, किन्तु पद अभी भी वाक्य के अन्तिम तात्पर्य के विषय में सक्रिय रहते हैं। इस अभिधातिरिक्त कार्य का सम्पादन करने वाली शक्ति तात्पर्य शक्ति कही जाती है, जिससे वाक्य का तात्पर्य भासता है। इस अभिधा तथा लक्षणा से पृथक् शक्ति को जयन्तभट्ट प्रभृति प्राच्य नैयायिक 'तात्पर्यशक्ति' तथा नव्य नैयायिक 'संसर्गमर्यादा' कहते हैं।[39] जयन्तभट्ट के मत में पद से लेकर वाक्य तक के अर्थ के तीन सोपान इस प्रकार होंगे—मुख्यार्थ, तात्पर्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ, जो क्रमशः अभिधा, तात्पर्य तथा लक्षणा नाम्नी शक्तियों द्वारा उपलब्ध हैं। यही मान्यता आचार्य अभिनवगुप्त की भी है।[40] अभिनवगुप्त के अनुसार चतुर्थ सोपान व्यंग्यार्थ अथवा ध्वनि है, जो व्यञ्जना-

38 [illegible] (सं० [illegible], वाराणसी: [illegible] संस्कृत ग्रन्थमाला 29, 1957), 2/20 "[illegible] । तात्पर्यार्थ [illegible] वाक्य [illegible] पद ॥ [illegible]" , 5/1 पर वृत्ति । पृ० 339 "[illegible] ।"

39 द्रष्टव्य गौरीनाथ शास्त्री: The Philosophy of Word and Meaning (कलकत्ता: कलकत्ता संस्कृत कालेज ग्रन्थमाला 5, 1959), पृ० 238।

40 द्रष्टव्य ध्वन्यालोक 1/4 पर लोचन (भाग 1), पृ० [illegible] : "[illegible] ।" पृ० 90 : "[illegible] ।" पृ० 97 "[illegible] ।" इसके अतिरिक्त द्रष्टव्य वही, पृ० 91 : "[illegible] ।"

व्यापार से गम्य है।[41] सम्भवतः जयन्तभट्ट ने अभिनवगुप्त को प्रभावित किया है और अभिनवगुप्त ने अपने परवर्ती आलंकारिकों को।

सम्यक् विचार करने पर कुमारिलभट्ट तथा जयन्तभट्ट दोनों ही के मत दोषपूर्ण प्रतीत होते हैं। वस्तुतः कुमारिल के शब्दबोध-सिद्धान्त में भी तात्पर्य का प्रवाह तात्पर्य अर्थात् अभिप्रेत अर्थ के ग्रहण तक अवश्यमेव स्वीकार किया जाना चाहिए। यदि वक्ता का तात्पर्य (अभिप्रेत अर्थ) अन्वित पदार्थों के संसर्गभूत विशेषरूप वाक्यार्थ में नहीं आ पाता तो लक्षणा का क्षेत्र हमें तात्पर्यभूत अर्थ के ग्रहण तक विस्तृत कर लेना पड़ेगा, क्योंकि मीमांसकमत में सामान्यातिरिक्त सम्पूर्ण विशेषभूत अर्थ लक्षणा ही का क्षेत्र है। इस स्थिति में तात्पर्यभूत अर्थ (अथवा व्यंजनावादियों का व्यंग्यार्थ) एक प्रकार का लक्ष्यार्थ ही माना जाएगा। इस प्रकार तात्पर्य को एक व्यापार विशेष न मानकर वक्त्रभिप्रायविशेष मानना ही उचित है जो विशेषरूप पदार्थ (यथा गोरनुबन्ध्यः में आकृति नहीं अपितु गोव्यक्ति का अनुबन्धन) पर्यवसानभूत विशेषरूप वाक्यार्थ अथवा वाक्यार्थ के पश्चात् प्रकाशित होने वाले तद्भिन्न (व्यंजनावादियों का व्यंग्य रूप)[42] अर्थ आवश्यकतानुसार कोई भी हो सकता है। यहाँ कदाचित् यह आक्षेप नहीं किया जा सकता कि एक ही लक्षणा-व्यापार से संसर्गभूत पदार्थ अन्वयविभूत वाक्यार्थ तथा तद्भिन्न अर्थों की प्रतीति कैसे सम्भव होगी, क्योंकि यह समस्या तो एक ही व्यंजना-व्यापार से अनेक भिन्न भिन्न व्यंग्यार्थों की प्रतीति मानने में भी सामने आती है।[43]

41 द्रष्टव्य न्यायमञ्जरी 1/4 [illegible] (भाग 1) पृ० 93 97 [illegible] व्यापारस्तु [illegible]। [illegible] । [illegible] व्यापार [illegible] ।"

42\. मुकुलभट्ट ने सभी प्रकार के अर्थों की प्रतीति लक्षणा से माना है। द्रष्टव्य अभिधावृत्तमातृका पृ० 27-37।

43 व्यञ्जनावादियों का पक्ष [illegible] सकता है कि एक ही व्यञ्जनाव्यापार से [illegible] व्यङ्ग्यार्थों की [illegible] वक्ता, बोद्धव्य, काकु, वाच्य तथा वाक्य के साथ अर्थ ([illegible] से भिन्न) की सन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल आदि के वैशिष्ट्य के कारण होता है (तुलनीय काव्यप्रकाश 3/21-22 [illegible] ॥ [illegible] । [illegible]-

अब रही जयन्तभट्ट आदि नैयायिकों की तात्पर्यविषयक धारणा। ये आचार्य वाक्य के तात्पर्य के ग्रहणार्थ पद तथा पदार्थों का संसर्ग तात्पर्यशक्ति द्वारा मानते हैं और उसे अभिधा तथा लक्षणा से भिन्न एक वृत्ति मानते हैं। यहाँ सम्भवतः यह उचित होगा कि तात्पर्य को शक्तिविशेष न मानकर वक्ता का अभिप्रायविशेष माना जाए, जो आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि से सहकृत हो पद तथा पदार्थों में संसर्ग स्थापित करने में समर्थ हो जाएगा, किन्तु तात्पर्य को संसर्गमात्र तक मर्यादित एवं सीमित कर देना ठीक न होगा। यदि संसर्गभूत वाक्यार्थ से वक्ता का तात्पर्य नहीं आ पाता (अर्थात् वाक्यार्थ तात्पर्यार्थ नहीं है) तो उस तात्पर्य को हमें अभी कृतकृत्य नहीं समझना चाहिए। ऐसे तात्पर्य के ग्रहणार्थ हमें लक्षणा का आश्रयण करना होगा। विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य प्रभृति न्याय-वैशेषिक दर्शन के आचार्यों द्वारा तात्पर्य की अनुपपत्ति की स्थिति में लक्षणा का मानना सर्वथा उचित है[44] और यही सूचित करता है कि तात्पर्य लक्षणा के प्रवर्तन से पूर्व ही उपरत नहीं हो जाता प्रत्युत संसर्गभूत अन्वयरूप वाक्यार्थ से भिन्न होने की स्थिति में उसके ही प्रदानार्थ लक्षणा प्रवृत्त होती है। इस स्थिति में लक्षणा के कार्य तक तात्पर्य बना रहता है। यह तात्पर्यभूत लक्ष्यार्थ अभिधा द्वारा

धीहेतुर्व्यभिचारो व्यभिचरेत्र मा ॥), तथापि परम्परित सम्बन्ध (सम्बद्धसम्बन्ध) की स्थिति में एक व्यङ्ग्यार्थ के अनन्तर अन्य व्यङ्ग्यार्थों के ग्रहण में समस्या बनी रहती है। उदाहरणार्थ—

विवरीअरए लच्छी बह्मं दट्ठूण णाहिकमलट्ठं ।
हरिणो दाहिणणअणं रसाउला झत्ति ढक्केइ ॥

[संस्कृतच्छाया विपरीतरते लक्ष्मीर्ब्रह्माणं दृष्ट्वा नाभिकमलस्थम् ।
हरेर्दक्षिणनयनं रसाकुला दृष्ट्वा झटिति स्थगयति ॥]

"विपरीतसुरत (पुरुषायित) में रसाकुल लक्ष्मी (विष्णु के) नाभि कमल में स्थित ब्रह्मा को देखकर विष्णु के दाहिने नयन को तुरन्त बन्द कर देती है।"

यहाँ 'हरि' पद से (विष्णु के) दाहिने नेत्र की सूर्यात्मकता व्यक्त होती है, उसके निमीलन में सूर्य का अस्तमय होना, उससे कमल का संकोच, उसमें ब्रह्मा का (कमल में) बन्द हो जाना, और तत्परिणामतः गोप्य अंगों के अदर्शन के कारण अनियन्त्रित निधुवनविलास व्यङ्ग्य है। इस प्रकार यहाँ एक ही व्यञ्जनाव्यापार से अनेक व्यङ्ग्यार्थों का ग्रहण किया जाता है। (द्रष्टव्य काव्यप्रकाश, पञ्चम उल्लास, पृ० 250-51)।

44. द्रष्टव्य ऊपर टिप्पण संख्या 30।

प्रदत प्रत्यक्ष अर्थात् मुख्यार्थ अथवा वाच्यार्थ न होकर अप्रत्यक्ष अर्थात् प्रतीयमान अर्थ ही होता है।

अत एव मीमांसा तथा न्याय दोनों ही दर्शनों पर दृष्टिपात करते हुए तात्पर्य को वक्ता का अभिप्राय अथवा विवक्षित अर्थ ही मानना अधिक समीचीन है, जयन्तभट्ट, अभिनवगुप्त, मम्मट आदि की भाँति अन्वयमात्र की प्रकाशिका शक्ति नहीं। ऐसी स्थिति में व्यंजनावादियों का व्यंग्यार्थ भी तात्पर्य से अतिरिक्त नहीं होगा। ध्वनि-अथवा व्यंजनावादियों का यह तर्क अधिक सबल नहीं है कि जहाँ वाक्य स्वार्थ में विश्रान्त न होकर आगे किसी अंश का बोध कराता है वह सब उसका तात्पर्य होता है, किन्तु वाक्य के स्वार्थ में विश्रान्त हो जाने के बाद उससे फिर निकलने वाला अर्थ ध्वनि अथवा व्यंग्य रूप होता है, क्योंकि वस्तुतः वाक्य कभी भी पार्यन्तिक अर्थ प्रदान किए बिना विश्रान्त नहीं माना जा सकता। तात्पर्य की कोई इयत्ता नहीं होती कि वह यहीं तक है शेष अन्य वस्तु, अपितु जहाँ तक वक्ता की विवक्षा अथवा प्रतिपिपादयिषा रहती है वहाँ तक तात्पर्य का क्षेत्र है। उदाहरणार्थ 'भम धम्मिअ' आदि गाथा में प्रतिपत्ता की अपेक्षापूर्ति तो विधिपरक अर्थ में हो जाती है किन्तु वक्ता की विवक्षा अथवा उसका अभिप्राय निषेधरूप पर्यवसायी अर्थ में होगा। अतः तात्पर्य को यावत्कार्यपर्यवसायी मानना चाहिए। तात्पर्य का यही रूप धनिक,[45]

45 द्रष्टव्य धनञ्जयविरचित दशरूपक की अपनी टीका, 'अवलोक' (स० भोलाशंकर व्यास, वाराणसी विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला 7, 1955) में उद्धृत 'काव्यनिर्णय' की अधोलिखित कारिकाएँ—

तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनिः।
किमुक्तं स्यादश्रुतार्थतात्पर्येऽन्योक्तिरूपिणि ॥1॥
ध्वनिश्चेत्स्वार्थविश्रान्तं वाक्यमर्थान्तराश्रयम्।
तत्परत्वं त्वविश्रान्तौ, तन्न विश्रान्त्यसम्भवात् ॥3॥
एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किं कृतम्।
यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम् ॥4॥
भ्रम धार्मिक विश्रब्धमिति भ्रमिकृतास्पदम्।
निर्व्यावृत्ति कथं वाक्यं निषेधमुपसर्पति ॥5॥
प्रतिपाद्यस्य विश्रान्तिरपेक्षापूरणाद्यदि।
वक्तुर्विवक्षितप्राप्तेरविश्रान्तिर्न वा कथम् ॥6॥

भोजदेव[46] तथा शारदातनय[47] को भी मान्य है और उन्होंने ध्वनिवादियों की ध्वनि का अन्तर्भाव तात्पर्य में किया है, जो अन्याय्य नहीं है। भोजदेव के मत में तात्पर्य के तीन रूप हैं—अभिधीयमान, प्रतीयमान तथा ध्वनिरूप (ध्वन्यमान)। अभिधा, लक्षणा तथा गौणी इन में से एक अथवा एकाधिक शब्दवृत्तियों द्वारा आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि के साहाय्य से गृहीत वाक्यार्थ अभिधीयमान तात्पर्य है। यदि शब्द तथा अर्थ स्वयं को गुणीभूत कर अन्य अर्थ की प्रतीति कराए तो वहां उनसे प्रतीयमान अर्थ का बोध माना जाता है। प्रतीति कराने वाला अर्थ गौण हो जाता है और प्रतीयमान प्रधान। प्रतीयमान अर्थ का यह उदय अनुनाद तथा प्रतिध्वनि रूप से दो प्रकार का होता है। प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अभिधीयमान ही से नहीं कभी-कभी अन्य प्रतीयमान अर्थ से भी होती है, अर्थात् एक प्रतीयमान

पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षापरतन्त्रता।
वक्त्रभिप्रेततात्पर्यमतः काव्यस्य युज्यते ॥7॥
(पृ॰ 240-42)

आचार्य विश्वनाथ ने ध्वनि के तात्पर्य पर दो आक्षेप किए हैं—

(1) शब्द, बुद्धि तथा कर्म एक बार अपना कार्य कर चुकने के बाद पुनः कहीं किसी प्रकार का व्यापार नहीं कर सकते, अतः एक अर्थ के बाद एक शब्दवृत्ति अन्य अर्थ नहीं दे सकती। (द्रष्टव्य साहित्यदर्पण, 5/1 की वृत्ति, पृ॰ 340 "तयोरुपरि 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभाव' इति वादिभिरेव पातनीयो दण्डः।")।

(2) यदि उनकी तात्पर्यवृत्ति अन्वयमात्र की बोधिका मीमांसकों की तात्पर्यवृत्ति से भिन्न है तो उसे तात्पर्य नहीं व्यंजना कहना उचित है, अतः उनके मत में भी तुरीया वृत्ति (व्यंजना) सिद्ध ही है—अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा तथा व्यंजना (वही, 5/1 की वृत्ति, पृ॰ 341-42 : "वस्तुतस्तु . तन्मतेऽपि तुरीयवृत्तिसिद्धेः।")। यहां विश्वनाथ जयन्तभट्ट प्रभृति नैयायिकों की तात्पर्यशक्ति को मीमांसकों से सम्बद्ध कर रहे हैं। वे ध्वनि में तात्पर्य को एक वृत्ति के रूप में समझते हैं, जो अनुचित है। वह कोई शब्दवृत्ति नहीं अपितु प्रतिपिपादयिषित अर्थ है।

46. द्रष्टव्य वी॰ राघवन् Bhoja's Sṛṅgāra Prakāśa (मद्रास-14 : पुनर्वसु, 7, श्रीकृष्ण पुरम् स्ट्रीट, 1963), पृ॰ 152-83।

47. देखिए भावप्रकाशन (स॰ यदुगिरि यतिराज स्वामी तथा के॰ एस॰ रामस्वामी शास्त्री, बड़ौदा गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज, संख्या 45, 1968, पुनर्मुद्रित), पृ॰ 149-51।

अर्थ अन्य प्रतीयमान अर्थ का आधार बन जाता है। अभिधीयमान अर्थ विधि, निषेध, उभय तथा अनुभय भेद से चार प्रकार का माना गया है। उससे भिन्न प्रतीयमान अर्थ विविध प्रकार का है। भोजदेव के अनुसार उसके अधोलिखित भेद बनते हैं—

1 विधि से निषेध (विधौ निषेधः)।
2. निषेध से विधि (निषेधे विधिः)।
3. विधि से अन्य विधि (विधौ विध्यन्तरम्)।
4. निषेध से अन्य निषेध (निषेधे निषेधान्तरम्)।
5 विधि तथा निषेध दोनों से अन्य विधि (विधिनिषेधयोर्विध्यन्तरम्)।
6 विधि तथा निषेध दोनों से अन्य निषेध (विधिनिषेधयोर्निषेधान्तरम्)
7. विधि तथा निषेध के अभाव में विधि (अविधिनिषेधे विधिः)।
8 विधि तथा निषेध के अभाव में निषेध (अविधिनिषेधे निषेधः)।
9. विधि से न विधि और न निषेध (विधावनुभयम्)।
10. निषेध से न विधि और न निषेध (निषेधेऽनुभयम्)।
11 विधि तथा निषेध से न तो विधि और न निषेध (निषेधेऽनुभयम्)।
12. विधि तथा निषेध के अभाव से न विधि और न निषेध (अविधि-निषेधेऽनुभयम्)।

अभिधीयमान तथा प्रतीयमान के बाद आने वाला तात्पर्य ध्वनि है। सम्भवतः भोजदेव ने प्रतीयमान तथा ध्वनि को पृथक् इसलिए माना है कि प्रतीयमान में गुणीभूत प्रतीयमान अर्थ आ सके और ध्वनि में प्रधानभूत प्रतीयमान अर्थ। इस प्रकार प्रतीयमान अवान्तरतात्पर्य है और ध्वनि परम-तात्पर्य। सम्भवतः तात्पर्य अभिधीयमान तथा प्रतीयमान भेद से दो प्रकार का मानना ही पर्याप्त है, गुणीभूत तथा प्रधानभूत दोनों ही प्रकार के प्रतीयमान अर्थ प्रतीयमान् के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। आचार्य आनन्दवर्धन का कथन है कि जहाँ प्रतीयमान अर्थ प्रधान है वहाँ तो वह तात्पर्यवादी की दृष्टि से वक्ता का विवक्षित होने से तात्पर्य हो जायगा; किन्तु जहाँ प्रतीयमान अर्थ प्रधान नहीं है वहाँ वह शब्दों को तत्पर न मानकर वाच्यार्थपरक मानता है, इस प्रकार अप्रधान व्यंग्य तात्पर्य के अन्तर्गत नहीं आ पाता।[48] वस्तुतः

48 ध्वन्यालोक, 3/33 की वृत्ति (खण्ड 2), पृ० 1026-46।

ऐसे स्थलों पर अप्रधानप्रतीयमानार्थसहकृत वाच्यार्थ ही तात्पर्य माना जाएगा। यों तो प्रायः प्रतीयमान अर्थ में अपेक्षाकृत चमत्कारच्छटा अधिक होती है, किन्तु जब अप्रधानप्रतीयमानार्थयुक्त काव्य में सहृदय को प्रतीयमान अर्थ से वाच्यार्थ की तुलना करने पर वाच्यार्थ तदपेक्षया अधिक आह्लाद-जनक अनुभव होता है तो वह वाच्यार्थमात्र से बोध की स्थिति की अपेक्षा इस स्थिति में कुछ अधिक ही चमत्कृत होता है। अप्रधानप्रतीयमानार्थयुक्त काव्य को यों भी मध्यम कोटिक काव्य ही माना जाता है, उत्तमकोटिक नहीं।[49]

भोजदेव ध्वनि का अन्तर्भाव तात्पर्य में कर लेते हैं। उनकी दृष्टि में ध्वनि तथा तात्पर्य में कोई भेद नहीं है। वे एक ही वस्तु के दो अभिधान-मात्र हैं सामान्य वचन में जो तात्पर्य है, काव्य में उसे ध्वनि कहा जाता है। सामान्य वचन अवक्र होता है और काव्य वक्र। वक्र काव्य में ध्वनिरूप पृथक् व्यवहार की सार्थकता मानी गई है।[50] कदाचित् प्रधानभूत प्रतीय-मानार्थरूप तात्पर्य ही के विषय में ऐसा कहना शक्य है, अभिधीयमान

49 तुलनीय मम्मट काव्य प्रकाश, सूत्र 3, पृ॰ 21 "'अताहशि गुणीभूतव्यङ्‌ग्यं तु मध्यमम्'। अनादृशि वाच्यादनतिशायिनि'।"

50 शृङ्गारप्रकाश (सं॰ जी॰ एस॰ जोसेर, मैसूर, 1955, भाग 1), षष्ठ प्रकाश, पृ॰ 2'1 " तात्पर्यम्, यस्य काव्येषु ध्वनिरिति प्रसिद्धिः। तदुक्तम्—

तात्पर्यमेव वचसि ध्वनिरेव काव्ये
सौभाग्यमेव गुणसम्पदि वल्लभस्य।
लावण्यमेव वपुषि स्वदतेऽङ्गनाया
शृङ्गार एवं हृदि मानवतो जगस्य॥

कः पुनः काव्यवचसो ध्वनितात्पर्ययोः विशेषः? उच्यते—

यद्वाक्यं वच शास्त्रे लोके च वच एव तत्।
वक्रं यदर्थवादादौ तस्य काव्यमिति स्मृतिः॥
यदभिप्रायसर्वस्वं वक्तुर्वाक्यात् प्रतीयते।
तात्पर्यमर्थधर्मस्तत् शब्दधर्मः पुनर्ध्वनिः॥
सौभाग्यमिव तात्पर्यमान्तरो गुण इष्यते।
वाग्देवताया लावण्यमिव बाह्यस्तयोर्ध्वनिः॥
अदूरविप्रकर्षात्तु द्वयेन द्वयमुच्यते।
यथा सुरभिवैशाखौ मधुमाधवसंज्ञया॥

द्रष्टव्य सप्तम प्रकाश, पृ॰ 251—52 भी।

(वाच्यार्थरूप) तात्पर्य के विषय में नहीं। शारदातनय विद्यानाथ तथा कुमारस्वामी[51] का भी यह मत मान्य है।

ऐसा प्रतीत होता है कि ध्वनि का तात्पर्य में अन्तर्भाव मानने वालों की परम्परा आनन्दवर्धन से पूर्व तथा उनके काल में भी विद्यमान थी। उन्होंने मीमांसकों (वस्तुतः जयन्तभट्ट प्रभृति कुछ नैयायिकों) को अभिमत अन्वय-मात्र के प्रयोजक तात्पर्य का खण्डन किया है जबकि विवक्षित अर्थ के रूप में तात्पर्य का उन्होंने ध्वनिप्रसंग में वृत्ति भाग में स्वयं अनेकत्र प्रयोग किया है।[52] ध्वनिकार ने भी ऐसे प्रसंगों में इस शब्द का व्यवहार किया है।[53]

51 विद्यानाथ प्रतापरुद्रीय (म० म० [illegible] शास्त्रिणा, मद्रास [illegible] सीरीज, नं० 3, 1914), काव्यप्रकरण, पृ० 32-33 "तात्पर्यार्थोऽपि व्यङ्ग्यार्थ एव न पुनः पृथग्भूतः।" द्रष्टव्य इसकी कुमारस्वामिकृत व्याख्या "ननु चतुर्थं तात्पर्यार्थं [illegible] विद्यामि [illegible] तात्पर्याय इति। अत्र [illegible] वाक्यार्थस्य [illegible] रसादिरूप [illegible]। तस्मिन् [illegible] तात्पर्यम्। ननु [illegible] अर्थाभिधायिना वा पदानां विशिष्टार्थ-प्रतिपादनपरत्वं तात्पर्यमिति मन्यन्ते मीमांसकाः वर्णयन्ति। [illegible] विशिष्टार्थ एव [illegible] तात्पर्यं [illegible] इति [illegible]। न हि [illegible] कविसंरम्भविषयः [illegible]। किन्तु [illegible] रसादय एव [illegible] तात्पर्य। [illegible] तात्पर्यं कविसंरम्भः। [illegible] व्यञ्जनयैव [illegible]। तस्माद् व्यञ्जना [illegible] तात्पर्यं [illegible] सिद्धम्।"

52. द्रष्टव्य ध्वन्यालोक, भाग 1, पृ० 492 (रसादितात्पर्येण, रसादितात्पर्ये), 590 ([illegible]) भाग 2, पृ० 763 (रसतात्पर्ये, रसतात्पर्य) 883 (रसादि-व्यङ्ग्यतात्पर्येण), 992 (रसादितात्पर्येण), 1026 (तात्पर्यविषय [illegible]) 1050 (तात्पर्य[illegible]) 1093 (तात्पर्येण [illegible] प्रयोजकम्) 1184 ([illegible] विना व्यङ्ग्यार्थ-तात्पर्येण [illegible] प्राधान्यम्), 1195 (रसादितात्पर्यम्) 1213 (तात्पर्येण वाच्यार्थीकृतमिति प्रतीयते) 1219 (रसादितात्पर्यरहितम्), 1226 (रसादि-तात्पर्य; रसादितात्पर्यविरहे रसादितात्पर्ये) 1232 (रसतात्पर्येण)।

53. द्रष्टव्य वही, भाग 1, 2:4 (रसादितात्पर्ये यत्र स ध्वनिरिष्यते मतः) 2:22 (रसतात्पर्येण [illegible] शक्त्युक्ति विना स्फुटः) 2:27 ([illegible] न वाच्यस्य), भाग 2, 3:41 (रसादितात्पर्यमाश्रित्य)।

संग्रहश्लोकों में भी इस प्रकार का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।[54] 'ध्वन्यालोक' की एक कारिका (2/22) पर टीका करते हुए स्वयं अभिनवगुप्त स्वीकार करते हैं कि 'तात्पर्य' पद अभिधाव्यापारनिराकरणपरक है और उससे ध्वननव्यापार अभिप्रेत है, तात्पर्यशक्ति नहीं।[55]

अनुमेय अथवा प्रतीयमान अर्थ अभिधीयमानातिरिक्त (अन्वयमात्र से भिन्न) तात्पर्य में गतार्थ हो जाता है। तात्पर्य वक्ता द्वारा अभिप्रेत समग्र अर्थ का प्रतिनिधित्व करता है और तत्परिणामतः उसमें अनुमेय अथवा प्रतीयमान अर्थ का परिग्रहण स्वाभाविक है। इसी कारण अनुमानवादी अनुमेयार्थ को वाच्यार्थ से भिन्न स्वीकार करते हैं। काव्यानुमिति द्वारा उपलब्ध अर्थ वक्ता द्वारा प्रकरणादिक की दृष्टि से सम्प्रेष्य अभिप्रेत अर्थ (तात्पर्य) का अग्रहण नहीं करता, अतः आनन्दवर्धन की भाँति, अनुमेय को प्रतिपाद्य से सर्वथा भिन्न मानना शक्य नहीं है। हमारा यह तात्पर्य कदापि नहीं है। कि प्रतिपाद्य अर्थात् सम्प्रेष्य अर्थ केवल अनुमेय ही है जब वह अन्वय (वाक्य के शाब्दिक अर्थ) से अभिन्न होता है वह केवल वाच्य होता है, किन्तु अन्वयभिन्न स्थिति में वह अनुमेय होगा, क्योंकि वह (अनभिधीयमान) तात्पर्य की सीमा में आ जाता है। आनन्दवर्धन के मतानुसार शब्दों का विषय दो प्रकार का होता है—अनुमेय तथा प्रतिपाद्य। उनमें विवक्षा अनुमेय है, जो दो प्रकार की होती है—शब्दस्वरूपप्रकाशनेच्छा तथा शब्द द्वारा अर्थप्रकाशनेच्छा (शब्द प्रयुयुक्षा तथा अर्थप्रतिपिपादयिषा)। उनमें पहली अर्थात् शब्दस्वरूपप्रकाशनेच्छा (शब्द-प्रयुयुक्षा) रूप विवक्षा शाब्दव्यवहार का अंग नहीं होती, क्योंकि प्राणित्वमात्र की प्रतीति ही

54 द्रष्टव्य वही, भाग 1, पृ० 256 (तत्परावेव शब्दार्थौ), 417 (रसभावादितात्पर्यम्) भाग 2, पृ० 1226 (रसादिषु विवक्षा तु स्यात्तात्पर्यवती यदा। तदा नास्त्येव तन्नाम्ना ध्वनेर्यत्र न गोचरः ॥) 1236 (यस्मिन् रसो वा भावो वा तात्पर्येण प्रकाशते।)।

55 द्रष्टव्य ध्वन्यालोक 2/22 (यन्नात्पर्येण वस्त्वन्यद् व्यनक्त्युक्तिं विना स्वतः ॥) पर 'लोचन', भाग 1, पृ० 559 : "स्वतन्त्रात्पर्येणेत्यभिधाव्यापारनिराकरणपरमिदं पदं ध्वननव्यापारमाह न तु तात्पर्यं शक्तिम्। सा हि वाच्यार्थप्रतीतावेवोपक्षीणेत्युक्तम् प्राक्।" ध्वन्यालोक, 1/4 पर 'लोचन' के इन वाक्यों से भी यही प्रतीत होता है कि कुछ लोग ध्वनि का अन्तर्भाव तात्पर्य में करते थे, द्रष्टव्य पृ० 128 : "यस्तु ध्वनिव्याख्यानोद्यतस्तात्पर्यशक्तिमेव विवक्षासूचकमेव वा ध्वननमवोचत्, स नास्माकं हृदयमावर्जयति।"; 154 : "यत्त्वत्रापि तात्पर्यशक्तिमेव ध्वननं मन्यते, स न वस्तुतत्त्ववेदी।"

उसका फल है। (शब्द का स्वरूपमात्र अर्थात् अर्थहीन व्यक्त अथवा अव्यक्त ध्वनि कोई प्राणी ही कर सकता है अचेतन नहीं, अतः शब्दस्वरूपमात्र के प्रकाशन से प्राणित्व का ज्ञान तो अवश्य हो जाता है, किन्तु उससे किसी प्रकार के अर्थ का ज्ञान न हो सकने से वह शाब्दव्यवहार या शाब्दबोध में उपयोगी नहीं है)। दूसरी अर्थात् शब्द द्वारा अर्थप्रकाशनेच्छा (अर्थप्रतिपिपादयिषा) रूप विवक्षा यद्यपि शब्दविशेष के अवधारण करने में अध्यवसित होकर व्यवहित हो जाती है तथापि उस व्यवहार में निमित्त होती है जिसका कारण शब्द है। ये दोनों शब्दों का अनुमेय विषय है। उनसे भिन्न प्रतिपाद्य प्रयोक्ता की प्रतिपिपादयिषा से विषयीकृत अर्थ है, जो वाच्य तथा व्यंग्य भेद से द्विविध होता है। जब प्रयोक्ता अपने (वाचक) शब्द से अर्थ के प्रकाशन की समीहा करता है तो प्रतिपाद्य वाच्य होता है और जब वह किसी प्रयोजनविशेष की दृष्टि से अपने (वाचक) शब्द से अनभिधेय रूप से अर्थ प्रकाशित करना चाहता है तो प्रतिपाद्य व्यंग्य होता है। यह द्विविध प्रतिपाद्य अनुमान का विषय नहीं होता।[56] आगे आनन्दवर्धन का कहना है कि शब्दों का लिङ्गरूप से व्यापार वक्ता के अभिप्रायरूप व्यंग्य के विषय में ही होता है जबकि उनके विषयभूत अर्थ के विषय में प्रतिपाद्य रूप से शब्दव्यापार होता है।[57] अभिप्रायरूप तथा अनभिप्रायरूप प्रतीयमान में

56. द्रष्टव्य ध्वन्यालोक, 3.33 की वृत्ति, भाग 2, पृ० 1106-1110। आनन्दवर्धन अर्थ को अनुमेय नहीं मानते। अभिनवगुप्त के अनुसार प्रतिपिपादयिषा में कर्म रूप में स्थित अर्थ में शब्द कारण रूप में व्यवस्थित होता है, वह अनुमेय नहीं होता, तद्विषयक प्रतिपिपादयिषा ही का अनुमान होता है (अवलोकनीय ध्वन्यालोक 3.33 पर 'लोचन' भाग 2, पृ० 1106—7. "विषय इति। शब्द स्वरूपं यदपि प्रतिपत्तिमात्रात् विषय इत्युक्तः। तत्र शब्दस्वरूपाश्रया च प्रतिपिपादयिषा चानुमेयत्वेऽपि विवक्षानुमेया स्यात्। यस्तु प्रतिपिपादयिषायाः कर्मभूतोऽर्थस्तत्र शब्दः कारणत्वेन व्यवस्थितः न त्वनुमेयः। तद्विषया हि प्रतिपिपादयिषैव कथमनुमीयते। न च तत्र शब्दस्य कारणत्वं यैव लिङ्गस्येतिकर्तव्यता पक्षधर्मत्वग्रहणादिका साऽस्ति। अपि त्वन्यैव संकेतस्मरणादिका तत्र तत्र शब्दो लिङ्गम्।"

57. ध्वन्यालोक, 3.33 की वृत्ति, भाग 2, पृ० 1111 : "अभिप्रायरूप एव व्यङ्ग्ये लिङ्गतया शब्दानां व्यापारः। तद्विषये तु प्रतिपाद्यतया।" आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि (ध्वन्यालोक, वाराणसी, ज्ञानमण्डल ग्रन्थमाला, ग्रन्थाङ्क 97, प्रथम संस्करण, 1962, पृ० 281) का यह कथन असंगत है कि "यहाँ वक्ता के अभिप्राय को व्यंग्य कहा है सो केवल स्थूल रूप से पर रहे अन्यथा ... दृष्टि से

व्यजकत्व व्यापार ही बन पाता है, वाचकत्व नही ।[58] आनन्दवर्धन वक्ता के अभिप्राय को व्यग्य म नते हैं ।[59] व्यग्य माना गया यह अभिप्राय *वाच्यार्थरूप सामान्य अभिप्राय से भिन्न तात्पर्य रूप मे विवक्षित प्रधानभूत* प्रतीयमानार्थ रू। अभिप्रायविशेष ही है, जो ध्वनि व्यवहार का प्रयोजक है। सभी लौकिक वाक्यो मे वक्त्रभिप्रायप्रकाशन के कारण व्यजकत्व *अविशिष्ट होता है, किन्तु वह ध्वनिव्यवहार का प्रयोजक नही होता, क्योकि* उनमे व्यग्य वाच्य के अविनाभूतरूप मे स्थित होता है और तात्पर्य रूप से विवक्षित नही होता, अत वह व्यजकत्व वाचकत्व से भिन्न नही हो पाता ।[60]

कह दिया है। वास्तव मे तो परेच्छारूप अभिप्राय के केवल अनुमानसाध्य होने से अभिप्राय अनुमेय ही होता है (व्यग्य नही)।" वस्तुत अनुमानवादी वक्त्रभिप्राय को अनुमेय मानते हैं (द्रष्टव्य 3:33 की वृत्ति, पृ० 1103. "ध्यान—प्रस्त्यतिसम्भाना-वसर वक्त्रभिप्रायापेक्षया व्यंजकत्वमिदानीमेव त्वया प्रतिपादित वक्त्रभिप्रायस्या-नुमेयरूप एव।")। आनन्दवर्धन नही। आचार्य जी ने यह व्याख्यान 'अभिप्राय' तथा 'विवक्षा' को अभिन्न मानकर किया है जबकि आनन्दवर्धन के विचारतन्त्र में वे दो भिन्न वस्तुएं हैं। आनन्दवर्धन अभिप्राय (प्रतिपिपादयिषित अर्थ) तथा विवक्षा (शब्दप्रयुयुक्षा तथा शब्द से अर्थप्रतिपिपादयिषा) में भेद करते हैं। अभिप्राय व्यङ्ग्य है, जबकि विवक्षा अनुमेय।

58 वही 3:33 पर वृत्ति, भाग 2, पृ० 1111 • "प्रतीयमाने तस्मिन्नभिप्रायरूपेऽनभि-प्रायरूपे च वाचकत्वेनैव व्यापारः सम्बन्धान्तरेण वा। न तावद् वाचकत्वेन यथोक्तं प्राक् सम्बन्धान्तरेण व्यञ्जकत्वमेव।"

59. वही, 3:33 पर वृत्ति, भाग 2, पृ० 1087 (पौरुषेयाणि च वाक्यानि प्राधान्येन पुरुषाभिप्रायमेव प्रकाशयन्ति। स च व्यङ्ग्य एव न त्वभिधेय, तेन सहाभिधानस्य वाच्यवाचकभावलक्षणसम्बन्धाभावात्।) 1093 (यत्त्वभिप्रायविशेषरूपं व्यङ्ग्य शब्दार्थाभ्यां प्रकाशते तद्भवति विवक्षित तात्पर्येण प्रकाश्यमानं सत्।), 1103 (वक्त्रभिप्रायापेक्षया व्यंजकत्वमिदानीमेव प्रतिपादितम्) 1106 (वक्त्रभिप्रायस्य व्यङ्ग्यत्वेनाभ्युपगमात्), 1111 (तस्माद्वक्त्रभिप्रायरूप एव व्यङ्ग्ये लिङ्गतया शब्दानां व्यापारः। तद्विषयीकृते तु प्रतिपाद्यतया।

60 वही, 3:33 पर वृत्ति, भाग 2, पृ० 1090 "नन्वनेन न्यायेन सर्वेषामेव लौकिकानां वाक्यानां ध्वनिव्यवहारः प्रसक्त। सर्वेषामप्यनेन न्यायेन व्यंजकत्वात्। सत्यमेतत्, किन्तु वक्त्रभिप्रायप्रकाशनेन यद् व्यंजकत्व तत्सर्वेषामेव लौकिकानां वाक्यानामविशिष्टम्। तत्तु वाचकत्वान्न भिद्यते व्यङ्ग्यं हि तत्र नान्तरीयकतया व्यव-स्थितम्। न तु विवक्षितत्वेन। यस्य तु विवक्षितत्वेन व्यङ्ग्यस्य स्थिति तद् व्यंजकत्वं ध्वनिव्यवहारस्य प्रयोजकम्।" द्रष्टव्य अन्यालोक 2:31 भी।

आनन्दवर्धन के अनुसार विविध प्रतीयमानार्थ रसादि वस्तु तथा अलंकार में से रसादि अभिप्रायरूप हैं और वस्तु तथा अलंकार अनभिप्रायरूप।[61] उनकी ऐसी मान्यता कदाचित् रसादि के प्रति वस्तु तथा अलंकार के गौणत्व पर आधृत है। वस्तु तथा अलंकार का रसादि के प्रति गौणत्व उनकी अपनी अनेक उक्तियों[62] के अतिरिक्त कुछ ध्वनि कारिकाओं[63] परिकरश्लोकों[64] तथा लोचनकार अभिनवगुप्त के

61. द्रष्टव्य वही, 3.33 पर वृत्ति, भाग 2, 1093 "तथा दर्शितव्यङ्ग्यस्य तात्पर्येण व्यञ्जकत्वमभिप्रायरूपस्यानभिप्रायरूपस्य च सर्वत्र ध्वनिव्यवहारस्य प्रयोजकम् ।"
62. वही, भाग 1, पृ॰ 155 "प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षण-प्राधान्यात् (वस्त्वलङ्कारध्वन्यावपि वाच्यवाच्यात्तैनत्सह्यकारित्वेन ... आवितत्वनैव ... —अभिनवगुप्त, पृ॰ 165), 3.9 "रसादिरूपो हि यद्यपि वाच्यवत् भातीति। स ... ध्वनेरात्मा (सो रसादिरूप स एवाङ्गी ध्वनेरात्मा–अभिनवगुप्त, पृ॰ 369) 434 "य पुनरङ्गी रसो भावो वा ... स ध्वनेरात्मेति" भाग 2, पृ॰ 796 "कविना काव्यमुपनिबध्नता सर्वात्मना रसपरतन्त्रेण भवितव्यम्। तत्र निपुण यदि रसानुगुणा स्थिति ... सङ्कल्पापि ... रसानुगुण ... 1221 "यत्र तु रसादीनामविषयत्वं स काव्यप्रकारो न सम्भवत्येव ... वस्तु च सर्वत्र ... कल्पचित् रसस्य भावस्य वाङ्गत्वं प्रतिपद्यते, अन्यथा विभावत्वेन; 1223 . "तस्य न ... काव्यप्रकारस्यास्ति ... रसादितात्पर्यमेव ..., 1226 यतः परिपाकवतां कवीनां रसादितात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते। रसादितात्पर्ये च नास्त्येव तद्वस्तु यदभिमतरसाङ्गतां नीयमानं न प्रगुणीभवति।" 1232 "तस्मान्नास्त्येव तद्वस्तु यत्सर्वात्मना रसतात्पर्यवतः कवेस्तदिच्छया तदभिमतरसाङ्गतां न धत्ते, 1333 "अभिलिखितपरम्परैवो असंलक्ष्यक्रमाय विचित्रे सन्दर्भे ... कविर-ध्वन्यनिमित्तमर्थं रसादिपर एव प्रतिपादयन्ति ... ।"
63. वही, 1.5 (काव्यस्यात्मा स एवार्थ), 2.3, 2.4, 3.9, 3.32—33 4.4 4.5 (व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन्विविधे सम्भवत्यपि। रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान्॥) 4.9।
64. वही, 3.19 का परिकरश्लोक भाग 2, पृ॰ 886 मुख्या व्यापारविषयाः सुकवीनां रसादयः। तेषां निबन्धने भाव्यं तैः सदैवाप्रमादिभिः॥ 3.43 के परिकरश्लोक, पृ॰ 1226

रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति।
अलङ्कारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः॥
रसादिषु विवक्षा तु स्यात्तात्पर्यवती यदा।
तदा नास्त्येव तत्काव्यं ध्वनेर्यत्र न गोचरः॥

शब्दों[65] से भी स्पष्ट है; रसध्वनि, वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि इन तीन प्रकार के ध्वनिभेदों में रसध्वनि सर्वोपरि है और ध्वनि की भी आत्मा है। यद्यपि काव्यात्मरूप प्रधानतात्पर्यभूत ध्वनि के इन तीन भेदों में गौण प्रधान्यभाव की कल्पना के लिए स्थान नहीं होना चाहिए तथापि आनन्दवर्धन ने रसध्वनि को काव्यात्मभूत ध्वनि का भी आत्मा मानकर उसकी सर्वोपरिता तथा उसके प्रति अन्य के उपयोगित्व एवं अङ्गत्व को स्वीकृति दी है आत्मा के भी आत्मत्व की खोज कुछ विचित्र ही लगती है। रस की यह सर्वोपरिता आचार्य मम्मट के 'काव्यप्रकाश' में प्रवाहित होती हुई[66] अन्ततः आचार्य विश्वनाथ के काव्यलक्षण 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'[67] में परिपाक को प्राप्त होती है, जिस पर पण्डितराज जगन्नाथ का आक्षेप[68] अन्याय्य नहीं है।

इस प्रकार आचार्य आनन्दवर्धन के विचारतन्त्र में अभिप्राय तथा

65. द्रष्टव्य 'लोचन', ध्वन्यालोक 1.5, पृ० 155 (भाग 1) : "तावन्मात्रविश्रान्तावपि वाच्यमात्राद्वैलक्षण्यकारित्वेन वस्त्वलङ्कारध्वनेरपि जीवितत्वमौचित्यादुक्तमिति भाव ।।" ; 2.3, पृ० 369 "यो रसादिरर्थः स एवाक्रमो ध्वनेरात्मा ।", 3.41 पृ०, 1190 (भाग 2) "रसादिव्यतिरिक्तस्य हि व्यङ्ग्यस्य रसाङ्गभावयोगित्वेन प्राधान्यं नान्यत्किञ्चित् ।"

66. काव्यप्रकाश, 1.2 की वृत्ति, पृ० 10 : "शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापार-प्रवणतया विलक्षणं यत् काव्यम्. ; 7.49 : "मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदा-श्रयाद्वाच्य । 8.66 . "ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः । उत्कर्षहेत-वस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥, नवम् उल्लास, पृ० 495 : "रसाद्यनुगतः प्रकृष्टो न्यासोऽनुप्रासः ।", "वृत्तिनियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः ।", 523 : "रसादिव्यञ्जकस्वरूपवाच्यविशेषसव्यपेक्षाण्यपि ह्यनुप्रासादीनामलङ्कारता ।"

67. साहित्यदर्पण प्रथम परिच्छेद पृ० 23 । द्रष्टव्य वृत्ति "रस एवात्मा साररूपतया जीवनाधायको यस्य । तेन विना तस्य काव्यत्वानङ्गीकारात् ।"

68. द्रष्टव्य रसगङ्गाधर, भाग 1 (वाराणसी. विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला 11, तृतीय संस्करण, 1970), प्रथम आनन पृ०. 25-26 : "यत्तु 'रसवदेव काव्यम्' इति साहित्यदर्पणे निर्णीतम्, तन्न, वस्त्वलङ्कारप्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः । न चेष्टापत्तिः, महाकवि-सम्प्रदायस्याकुलीभावप्रसङ्गात् । तथा च जलप्रवाहवेगनिपतनोत्पतनभ्रमणानि कविभिर्वर्णितानि, कपिबालविलसितानि च । न च तत्रापि कथञ्चित् परम्परया रसस्पर्शोऽस्त्येवेति वाच्यम्, ईदृशरसस्पर्शस्य 'गौश्चलति', 'मृगो धावति' इत्यादावतिप्रसक्तत्वेनाप्रयोजकत्वात् । अर्थमात्रस्य विभावानुभावव्यभिचार्यन्यतमत्वादिति दिक् ।"

तात्पर्य समान जैसे हैं दोनों ही व्यंग्य हैं। यदि उनमें अन्तर है तो केवल यही अभिप्राय कभी-कभी वाच्यार्थ से अविनाभूत, समकक्ष तथा अवरकोटिक भी हो सकता है, जिस स्थिति में वह ध्वनिव्यवहार का प्रयोजक नहीं होगा, जबकि तात्पर्य सर्वत्र ही वाच्यार्थ से भिन्न प्राधान्येन विवक्षित अर्थ है।[69] अर्थात् तात्पर्य अभिप्राय सामान्य नहीं, अभिप्रायविशेष (प्रधानतया प्रतिपिपादयिषित अर्थ) है। तात्पर्य तथा अभिप्राय को केवल रसादिमात्र ही से सम्बद्ध नहीं किया जा सकता, उन्हें प्रधानतया विवक्षित वस्तु तथा अलंकार के पक्ष में भी माना जाना चाहिए वस्तुप्रधान तथा अलंकार-प्रधान अथवा वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि से युक्त काव्यों में वस्तु तथा अलंकार को ही तात्पर्य अथवा अभिप्राय मानना होगा। अतः तात्पर्य[70] तथा अभिप्राय को प्रायः समानार्थी ही मानना समीचीन होगा। ध्वनिमत में ये व्यंग्य और अनुमितिवाद में अनुमेय है।

आनन्दवर्धन का अनुमान के क्षेत्र को केवल शब्दस्वरूपप्रकाशनेच्छा (शब्दप्रयुयुक्षा) तथा शब्द द्वारा अर्थप्रकाशनेच्छा (अर्थप्रतिपिपादयिषा) इस द्विविध विवक्षा तक सीमित कर देना, जिनमें प्रथम वक्ता के प्राणित्वमात्र के बोध में परिणत होने से शाब्दव्यवहार में अनुपयोगी मानी गई है और द्वितीय ऐसी जो शब्दविशेष के अवधारण करने में अध्यवसित होकर व्यवहित हो जाती है तथापि उस व्यवहार में निमित्त होती है जिसका कारण शब्द है, और वाच्य तथा व्यंग्य इस द्विविध प्रतिपाद्य को उसके क्षेत्र से परे मानना अनुमानवादियों के विरोध में एक दुरभिसन्धि का संकेत देना है इस प्रकार वे वाच्य को भी अनुमान का विषय नहीं बनने देना चाहते, व्यंग्य तो फिर बहुत दूर की वस्तु है। वस्तुतः वक्ता की दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि शब्दप्रयुयुक्षा तथा शब्द द्वारा अर्थप्रतिपिपादयिषा उसके मन में पूर्णतः विद्यमान अर्थ (प्रतिपाद्य, अथवा विचारविशेष) का ही

69 द्रष्टव्य ध्वन्यालोक, 3/33 पर वृत्ति, भाग 2, पृ॰ 1050 "यस्मान्न्यायेन वाक्यानां वाच्यव्यतिरिक्तस्तात्पर्यलक्षणोऽर्थोऽभिधीयते।" 3/40 पर वृत्ति, भाग 2, पृ॰ 1184 "यत्र वस्तुन्ति विना व्यङ्ग्योऽर्थस्तात्पर्येण प्रतीयते तत्र तस्य प्राधान्यम्।"; 2/27 पर अभिनवगुप्तकृत 'लोचन', भाग 1, पृ॰ 594 "योऽर्थोऽभिमतो यत्र तत्परत्वं न ध्वनयति इत्यर्थः।"

70 आनन्दवर्धन के अनुसार प्रभाकर आनन्दभट्ट आदि नैयायिकों तथा अभिनवगुप्त, विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों की अवधारणा की तात्पर्यवृत्ति तात्पर्यवृत्ति नहीं है।

फल है, क्योंकि उसी के सम्प्रेषणार्थ वह शब्दप्रयोग तथा तद्द्वारेण अर्थाभिव्यक्ति का उपक्रम करता है। श्रोता की दृष्टि से विचार करने पर सम्प्रेषित अर्थ (प्रतिपाद्य, अथवा विचारविशेष) वक्ता की इच्छा का फल है। अतः किसी व्यक्ति की विवक्षा से हम उसके द्वारा सम्प्रेष्य अर्थ (प्रतिपाद्य, अथवा विचारविशेष) की सत्ता का अनुमान कर सकते हैं। इस कारण यह कहना कठिन होगा कि वक्ता की विवक्षा ही अनुमेय है, उसका प्रतिपाद्य कदापि नहीं। किसी व्यक्ति द्वारा शब्दप्रयोग के माध्यम से अपने अर्थ का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिये जाने पर अन्य मनुष्यों को केवल उसकी इच्छा ही का नहीं प्रत्युत उसके प्रतिपाद्य अथवा अर्थ का ज्ञान होना प्रारम्भ हो जाता है। वक्ता की शब्दप्रयुयुक्षा तथा शब्दप्रयोग द्वारा अर्थप्रतिपिपादयिषा से श्रोता को प्रतिपिपादयिषित तत्त्व (अर्थ अथवा प्रतिपाद्य) का निर्विकल्पक ज्ञान होता है, किन्तु प्रकाशन-प्रक्रिया के आगे बढ़ने के साथ साथ यह ज्ञान सविकल्पक होता जाता है। यह प्रतिपाद्य अन्वय (शाब्दिक अर्थ) रूप होने पर वाच्य और उससे भिन्न स्थिति में यह तात्पर्यभूत अथवा अभिप्रायरूप प्रतिपाद्य अनुमेय अथवा प्रतीयमान (व्यञ्जनावादियों की दृष्टि से व्यंग्य) होगा। आनन्दवर्धन के विचारतन्त्र में इस द्वितीय प्रकार के प्रतिपाद्य के प्रधान होने पर तात्पर्य कहना उचित होगा। अभिधीयमान तात्पर्य को 'वाच्यार्थ' (अथवा न्यायमत में 'अन्वय') और प्रतीयमान तात्पर्य को 'तात्पर्य' (संज्ञा से व्यवहृत करना सुविधा की दृष्टि से अनुचित भी नहीं है। यह प्रतीयमान तात्पर्य) अनुमितिवादी दृष्टिकोण के अनुसार अनुमेयार्थ है और व्यञ्जनावादियों के मत में व्यंग्यार्थ। अनुमेयार्थ तथा वाच्यार्थ को अभिन्न मानना एक महती भ्रान्ति होगी, क्योंकि स्वयं अनुमितिवादी उनके मध्य विद्यमान भेद के प्रति सर्वथा सचेत हैं।

आनन्दवर्धन ने यद्यपि अनुमितिवाद का खण्डन तथा प्रत्याख्यान किया है तथापि उनकी कतिपय उक्तियां उन पर इस नैयायिक सिद्धान्त के प्रभाव को मुखरित कर देती हैं। इन उक्तियों में लिङ्गत्व तथा व्यञ्जकत्व के अनेकत्र अभेद की गन्ध मिलती है—

(1) 'तस्माद्वक्त्रभिप्रायरूप एव व्यंग्ये लिङ्गतया शब्दानां व्यापारः" (ध्वन्यालोक, भाग-2, 3/33 पर) वृत्ति, पृ॰1111), अर्थात् ' अतः वक्ता के अभिप्रायरूप व्यंग्य में ही लिंग के रूप में शब्दों का व्यापार होता है।" इस प्रकार वक्त्रभिप्राय के प्रति शब्दों का व्यापार लिंग

भी कहा जा सकता है और उसके व्यंग्य होने से व्यंजक भी। नि सन्देह शब्दों के व्यापार को व्यंजक मानना चाहिए, क्योंकि अपने रूप को प्रकाशित करते हुए (दीपकादि के समान) पर के रूप को प्रकाशित करने वाला व्यंजक कहा जाता है।[71]

(2) "तस्माल्लिङ्गिप्रतीतिरेव सर्वत्र व्यङ्ग्यप्रतीतिरिति न शक्यते वक्तुम्" (तदेव, 3/33 पर वृत्ति, पृ० 1114), अर्थात् "इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि व्यंग्य की प्रतीति सर्वत्र लिंगी की प्रतीति ही होती है।" इससे यह सिद्ध हो जाता है कि कुछ स्थलों पर व्यंग्य की प्रतीति लिंगी की प्रतीति होती है।

(3) "यत्त्वनुमेयरूपव्यङ्ग्यविषयं शब्दानां व्यञ्जकत्वं तद्ध्वनिव्यवहारस्याप्रयोजकम्" (तदेव, 3/33 पर वृत्ति, पृ० 1118), अर्थात् "जो शब्दों का अनुमेयरूप-व्यंग्य-विषयक व्यंजकत्व है वह ध्वनिव्यवहार का प्रयोजक नहीं होता।" इससे प्रतीत होता है कि अनुमेय को व्यंग्य भी कहा जा सकता है।

(4) किन्तु व्यंजक सदा लिंगरूप ही नहीं होता, जैसे दीपक का आलोक लिंगत्व के अभाव में भी घटादि का व्यंजक होता है—आलोक घटादि का व्यंजक तो होता है, किन्तु घटादि का अनुमितिहेतु न होने से लिंग नहीं होता। अत व्यंजक का लिंग ही होना आवश्यक नहीं है "न पुनरयं परमार्थो यद्व्यञ्जकत्वं लिङ्गत्वमेव सर्वत्र व्यंग्यप्रतीतिश्च लिङ्गिप्रतीतिरेवेति" (3/33 पर वृत्ति, पृ० 1104), "न च व्यञ्जकत्वं लिङ्गत्वमेव आलोकादिष्वन्यथा दृष्टत्वात्।" (तदेव, पृ० 1111)।

(5) "तद्धि व्यञ्जकत्वं कदाचिल्लिङ्गत्वेन कदाचिद्रूपान्तरेण शब्दानां वाचकानामवाचकानां च सर्ववादिभिरप्रतिक्षेप्यमित्ययमस्माभिर्यत्न आरब्धः।" (तदेव, पृ० 1118), अर्थात् "वह वाचक तथा अवाचक शब्दों का व्यंजकत्व कभी लिंगरूप से और कभी अन्य रूप से सभी वादियों को स्वीकर्तव्य है, इसी से हमारे द्वारा यत्न आरम्भ किया गया है।"

71. ध्वन्यालोक, 3/33 पर वृत्ति, भाग 2, पृ० 1050 : "व्यञ्जकत्वमार्गे तु यदार्थोऽर्थान्तरं द्योतयति तदा स्वरूपं प्रकाशयन्नेवासावन्यस्य प्रकाशकः प्रतीयते प्रदीपवत्।" 1064 : "स्वरूपं प्रकाशयन्नेव परावभासको व्यञ्जक इत्युच्यते।"

इससे स्पष्ट है कि कभी-कभी व्यंजक लिंगरूप भी होता है, किन्तु आनन्दवर्धन के मत में ध्वनि का क्षेत्र अधिक व्यापक है।[72]

अनुमान तथा व्यंजना के भेद के मूल में माना जाने वाला सहृदयाभिद बहुत सूक्ष्म है। वस्तुतः अनुमान के भिन्न पक्षों को लेकर दर्शनजगत् में मतवैभिन्य रहा है। उदाहरणार्थ श्रुतार्थापत्ति अद्वैतवेदान्त तथा भाट्टमीमांसा में एक स्वतंत्र प्रमाण है, जबकि न्याय में वह अनुमानान्तर्गत है।[73] अभिनवगुप्त केवल उसे गुण, अलंकार तथा चारुत्व से रहित होने के कारण ही ध्वनि नहीं मानते, अन्यथा वे उसे उस कोटि में रख सकते थे।[74] अतः नैयायिकों की दृष्टि से श्रुतार्थापत्ति के रूप में अनुमान सरलतया व्यंजना से अभिन्न माना जा सकता है।[75] 'न्यायमंजरी' में स्पष्टतः प्रभाकर मीमांसकों के श्रुतार्थापत्तिविरोधी तर्कों को अभिनवगुप्त ने अपनी 'ध्वन्यालोक' की लोचन नाम्नी टीका में व्यंजनाविरोधी युक्तियों के रूप में ग्रहण कर लिया है। अतिरिक्त अथ च मतवैषम्यार्थ प्रभाकर मीमांसक शब्द का दीर्घदीर्घव्यापार स्वीकार करते हैं।[76] इस दीर्घदीर्घव्यापार के विरोध में सबसे प्रबल

72. अभिनवगुप्त ने अनुमानादि से व्यंजकत्व का विश्लेषण और अधिक स्पष्टतः प्रतिपादित किया है। द्रष्टव्य ध्वन्यालोक 3/33 पर 'लोचन', भाग 2, पृ० 1119: "तत्र एव हि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]—[illegible]।"

73 द्रष्टव्य जयन्तभट्ट न्यायमञ्जरी (कामदत्ता काशी संस्कृत माला 106, भाग 1, 1971, सं० सूर्यनारायण शुक्ल, प्रमाणप्रकरण, पृ० 42. "श्रुतार्थापत्ति [illegible] नानुमानात् भिद्यते"।

74 ध्वन्यालोक, 1/13 पर 'लोचन', भाग 1, पृ० 190. "[illegible] [illegible] [illegible] एव।"

75. द्रष्टव्य भावनाविवेकीय [illegible] (बड़ौदा गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, 1940, अनु० डा० वेंकटरमण), पृ० 100-103।

76 द्रष्टव्य जयन्तभट्ट पूर्वोल्लिखित ग्रन्थ, भाग 1 पृ० 43. "[illegible] [illegible]"

युक्ति यह है कि यदि श्रुतार्थापत्ति से गृहीत अतिरिक्त अर्थ को मुख्यार्थस्थानी मान लिया जाए तो मुख्यार्थ को गौण तथा लक्ष्य अर्थ से अभिन्न मानना पड़ेगा; श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या इन छह प्रमाणों के समवाय में पूर्वपूर्वबलीयस्त्व भी नहीं रह जाएगा। ये ही युक्तियाँ आचार्य मम्मट ने अपने 'काव्यप्रकाश' के पंचम उल्लास में व्यञ्जना की स्थापना के लिए प्रयुक्त की हैं।[77] जयन्तभट्ट श्रुतार्थापत्ति से गृहीत अर्थ को अनुमान-प्रक्रिया से ग्रहण करते हैं, जबकि अभिनवगुप्त तथा मम्मट उसे व्यञ्जना से मानते हैं। श्रुतार्थापत्ति द्वारा गृहीत अर्थ को स्वयं शब्द का अर्थ मानने में अभिनवगुप्त तथा मम्मट प्राभाकर मीमांसकों से सहमत हैं; किन्तु वे उस अर्थ को श्रुतार्थापत्ति से मानते हैं,[78] जबकि प्राभाकर मीमांसक उसे दीर्घदीर्घशब्द व्यापार से स्वीकार करते हैं। नैयायिकों के ज्ञानलक्षण प्रत्यक्ष तथा अनुमान में भी स्वल्प ही भेद है, जिस कारण अद्वैतवेदान्ती पहले का अन्तर्भाव दूसरे ही में कर लेते हैं।[79] 'जटिल' प्रत्यक्ष की अनेक स्थितियाँ ऐसी भी होती हैं जिन्हें अनुमान कहा जा सकता है। जे० एस० मिल का यह मत है कि दूरी का चाक्षुष प्रत्यक्ष वास्तव में अनुमिति पर आधृत एक अनुमान है, यद्यपि सुपरिचित स्थितियों में यह इतना शीघ्र घटित हो जाता है कि ठीक दृष्टि से उन प्रत्यक्षों जैसा प्रतीत होता है जो वस्तुतः प्रातिभ हैं, यथा हमारे वर्ण (रंग) के प्रत्यक्ष।[80] अत्यल्प भेद होने पर भी आनन्दवर्धन ध्वनि तथा अनुमान को एक मानने को तैयार नहीं हैं, क्योंकि सामान्य लक्षणमात्र से ही उपयोगी विशेष लक्षणों का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता।[81]

नवम शतक ई० ही के प्रसिद्ध नैयायिक जयन्तभट्ट ने "पीनो देवदत्तो दिवा

77. काव्यप्रकाश, पृ० 229-30।
78. द्रष्टव्य वहीं, द्वितीय उल्लास, पृ० 45 : "पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते" इत्यत्र च रात्रिभोजनं न लभ्यते श्रुतार्थापत्तेरर्थापत्तेर्वा तस्य विषयत्वात्।"
79. द्रष्टव्य मुकुन्दमाधव शर्मा : *The Dhvani Theory in Sanskrit Poetics* (वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत स्टडीज 63, 1968), पृ० 199।
80. द्रष्टव्य जॉन स्टुअर्ट मिल : *A System of Logic*, पृ० 4।
81. द्रष्टव्य ध्वन्यालोक, 3/33 पर वृत्ति, भाग 2, पृ० 1118 : "न हि सामान्यमात्रलक्षणेनोपयोगिविशेषलक्षणानां प्रतिषेधः शक्यः कर्तुम्।"

न भुङ्क्ते' आदि में विद्यमान श्रुतार्थापत्ति को अनुमानान्तर्गत माना है। उन्हीं युक्तियों के आधार पर वे 'भमधम्मिअ' आदि में निषेध तथा 'मास्म पान्थ गृह विश' आदि में विधि रूप ध्वनि को अनुमान से अभिन्न मानते हैं, यद्यपि वे इस विषय में कवियों के साथ तर्क नहीं करना चाहते।[82]

इस प्रकार संस्कृत-काव्यशास्त्र में अनुमानवाद की एक पर्याप्त प्राचीन एवं पुष्ट परम्परा रही है। काव्यजगत् में हमें अनुमान-प्रक्रिया को उसकी न्यायशास्त्रसम्मत जटिलताओं एवं रूक्षता से मुक्त कर स्वीकार करना होगा। चूंकि काव्य का जगत् अलौकिक एवं विलक्षण होता है, उसमें निबद्ध विषय भी जिसे अनुमान का विषय बनाया जा सकता है अलौकिक एवं विलक्षण होता है अतः उसके बोध के लिए साधनभूत अनुमान भी न्यायशास्त्र के अनुमान से विलक्षण होना चाहिये। जैसा कि हम देख चुके हैं, अनुमान के विरोध में व्यञ्जनावादियों की सबसे बड़ी युक्ति यही रही है कि अनुमान निश्चयात्मक[83] या प्रमात्मक होता है, जबकि काव्य का उद्देश्य सत्यासत्य का निश्चय न होकर चमत्कार अथवा आनन्द है, अतः उसमें व्यंग्यप्रतीतियों का सत्यासत्यनिरूपण निष्प्रयोजन ही होता है, वहाँ प्रमाणान्तरपरीक्षा उपहास ही के लिए होती है, अत एव यह नहीं कहा जा

82. न्यायमञ्जरी, भाग 1, पृ० 45.

अनेन शब्दसामर्थ्यमहिम्ना सोऽपि वारितः।
यमन्य पण्डितंमन्य प्रपेदे कञ्चन ध्वनिम्॥
'भम धम्मिअ वीसत्थो' 'मा स्म पान्थ गृहं विश'।
विधेर्निषेधावगतिर्विधिबुद्धिर्निषेधतः॥
मानान्तरपरिच्छेद्यवस्तुरूपोपदेशिनाम्।
शब्दानामेव सामर्थ्यं तत्र तत्र तथा तथा।

× × × ×

अथवा नेदृशी चर्चा कविभिः सह शोभते।
विद्वांसोऽपि विमुह्यन्ति वाक्यार्थगहनेऽध्वनि॥
तदनया गोष्ठ्या विद्वज्जनोचितया गिर।
परमगहनस्तर्कज्ञानामभूमिरयं नवः॥

83. आनन्दवर्धन ध्वन्यालोक, 3/33 पर वृत्ति, भाग 2, पृ० 1110 : "यदि हि लिङ्गिप्रतीतिः तत्र शब्दानां व्यापारः स्यात्तच्छब्दार्थे सम्यङ्मिथ्यात्वादि विवाद एव न प्रवर्तेत, धूमादिलिङ्गानुमितानुमेयान्तरवत्।" द्रष्टव्य इस पर अभिनवगुप्त की 'लोचन' : "अनुमान हि निश्चयस्वरूपमेवेति भाव"।

सकता कि व्यंग्यप्रतीतिसर्वत्र लिंगिप्रतीति ही होती है ।[84] विलक्षण तथा चमत्कारात्मक काव्यार्थ की प्रतीति के लिए अनुमान भी विलक्षण एवं चमत्कारप्रदायक होना चाहिए। रसानुभूति के क्षेत्र में अनुमिति के स्थापक श्री शंकुक ने भी इस आवश्यकता का अनुभव किया था।[85] ऐसी स्थिति में हमें काव्य में अनुमान के सभी न्यायशास्त्रीय उपकरणों एवं अवयवों के यथार्थ अस्तित्व का आग्रह नहीं करना चाहिए। यहाँ सद्हेतुत्व का मोह भी छोड़ देना होगा। न्यायशास्त्र के आधार पर काव्य में गृहीत 'काव्यलिंग' तथा 'अनुमान' इन दो अलंकारों में भी आलंकारिकों ने यही स्थिति स्वीकार की है। किसी वाक्य अथवा पद का वर्णनीय विषय के हेतु के रूप में कथन 'काव्यलिंग' अलंकार होता है। इस अलंकार में कोई कविकल्पनासम्भूत हेतु विच्छित्तिविशेष के साथ किसी वर्णनीय विषय की स्थापना एवं पुष्टि के लिए उपन्यस्त होता है। इसमें कविकल्पनाप्रसूत लिंग अथवा हेतु का उपनिबन्धन होता है, जो लौकिक अथवा तार्किक हेतु से भिन्न हो।[86] इस

84. वही, 3/33 पर वृत्ति, भाग 2, पृ० 1114 : "काव्यविषये च व्यङ्ग्यप्रतीतीनां सत्यासत्यनिरूपणस्याप्रयोजकत्वमेवेति तत्र प्रमाणान्तरव्यापारपरीक्षोपहासायैव सम्पद्यते। तस्माल्लिङ्गिप्रतीतिरेव सर्वत्र व्यङ्ग्यप्रतीतिरिति न शक्यते वक्तुम् ।" द्रष्टव्य इस पर अभिनवगुप्तकृत 'लोचन', पृ० 1115 : "न हि तेषां वाक्यानामग्निष्टोमादिवाक्यवत् सत्यार्थप्रवर्तनद्वारेण प्रवर्तकत्वाय प्रामाण्यमन्विष्यते, प्रीतिमात्रपर्यवसायित्वात् । प्रीतेरेव चालौकिकचमत्काररूपाया व्युत्पत्त्यङ्गत्वात् । एतच्चोक्तं वितत्य प्राक् । उपहासायैवेति । नाय सहृदयः केवलं शुष्कतर्ककर्कशहृदयः प्रतीतिं परामृशत् नाममित्येव उपहासः ।"

85 द्रष्टव्य ऊपर टिप्पण 27, हेमचन्द्र: काव्यानुशासन, 2/1 पर 'अलङ्कारचूडामणि' में उद्धृत श्रीशङ्कुक का रसविषयक मत, पृ० 91-92 : "अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलात् कार्यकारणसहचारिरूपप्रत्येककल्पनासम्भवा रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः स्थायित्वेन सम्भाव्यमानो......रस. ।"

86 द्रष्टव्य मम्मटविरचित काव्यप्रकाश पर नरहरिसरस्वतीतीर्थ की 'बालचित्तानुरञ्जनी' (सं० योगराज शर्मा तथा जगन्नाथ पाठक, प्रयाग: गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, 1976), पृ० 419 : "यत्र काव्यरूपो हेतुः वाक्यार्थरूपतया विशेषणद्वारेण पदार्थरूपतया वा निबद्धत्वेन निबध्यते तद् काव्यलिङ्गमित्यर्थः ।"; वामनाचार्य रामभट्ट झलकीकरकृत 'बालबोधिनी', पृ० 677: "वाक्यार्थरूपतयैकपदार्थरूपतयैकपदार्थरूपतय

प्रकार के हेतु से उक्ति में विलक्षणता, वैचित्र्य तथा रमणीयता की सृष्टि होती है। उद्भट के टीकाकार इन्दुराज ने तार्किक हेतु तथा काव्यहेतु में भेद करते हुए कहा है कि तार्किक हेतु में चमत्कार का अभाव होता है, जबकि काव्य में अभिमत हेतु रमणीय अथवा चमत्कारपूर्ण होता है।[87] 'काव्यलिंग' में न्यायशास्त्र का लिंग (हेतु) अभिमत नहीं है, इसीसे इसमें विशेषण लगाया जाता है।[88] इसमें व्याप्ति, पक्षधर्म, उपसंहार आदि का अनिवार्य नहीं होता।[89] यहाँ हेतु का हेतुसदृश होना ही पर्याप्त है। इसी प्रकार साधन (हेतु) से साध्य के ज्ञान को 'अनुमान' अलंकार माना गया है। इसके लिए विच्छित्ति एक अनिवार्य शर्त है।[90] न्यायशास्त्र में

च हेतोर्विधानं काव्यलिङ्गमिति निष्कर्षः। काव्याभिमतं लिंगं काव्यलिङ्गम्। तर्कशास्त्राभिमतलिङ्गव्यावर्तनाय काव्यपदम्। लिङ्गमत्र हेतुः। अत्रापि सूत्र चमत्कृतिहेतुचमत्कारत्वमात्रयत्नलक्षणमाप्तमस्त्येव। तेन 'दण्डेन घटः' इत्यादौ चमत्काराभावान्न काव्यलिङ्गत्वम्। अत्र काव्यलिङ्गालङ्कार एव हेत्वलङ्कार इत्युच्यते''।

87 द्रष्टव्य काव्यालङ्कारसारसंग्रह, 6/7 पर उनकी 'लघुवृत्ति' (सं० नारायणदास बनहट्टी पुणे भाण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन-संस्थान, प्रथम संस्करण, 1925) पृ० 81, ' पक्षधर्मत्वान्वयव्यतिरेकानुसरणप्रवणा यथा तार्किकप्रसिद्धा हेतवो लोकप्रसिद्धवस्तुविषयत्वेनानतिकम्यमाना वैरस्यमावहन्ति न तथा काव्यहेतु अतिशयेन सर्वथा जनानां यान्ति हृद्यमचारी सरसं पदार्थसन्निष्ठितया उपनिबध्यमानत्वात्। अत काव्यलिङ्गमिति काव्यग्रहणमुपात्तम्। न चान्यत् तच्छास्त्रीयलिङ्गं किं तर्हि काव्यलिङ्गमिति काव्यग्रहणेन प्रतिपाद्यते।'' रुय्यक अलङ्कारसर्वस्व (सं० रेवाप्रसाद द्विवेदी, वाराणसी काशी संस्कृत ग्रन्थमाला 206, प्रथम संस्करण, 1971) सूत्र 58 की वृत्ति, पृ० 538 ''तर्कवैलक्षण्यार्थं काव्यग्रहणम्। न ह्यत्र व्याप्तिपक्षधर्मोपसंहारादय क्रियन्ते।' (जयरथकृत 'विमर्शिनी', पृ० 540 ' कविप्रतिभासमुत्थस्य विच्छित्तिविशेषस्य अलङ्कारत्वमेवोक्तं स्यात्।'')।

88 अप्पय्यदीक्षित कुवलयानन्द (सं० भोलाशंकर व्यास, वाराणसी विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला 24 1956), कारिका 121 की वृत्ति, पृ० 195 ' व्याप्तिपक्षधर्मताशालिनैयायिकाभिमतलिङ्गव्यावर्तनाय काव्यविशेषणम्।''

89 द्रष्टव्य ऊपर टिप्पणी 86, 87, माणिक्यचन्द्र काव्यप्रकाश 10/114 पर 'संकेत' (सं० विनायक गणेश आप्टे, पूना - आनन्दाश्रम ग्रन्थावलि, ग्रन्थांक 89, 1921), पृ० 263 ' काव्यग्रहणात् काव्यलिङ्गं व्याप्तिपक्षधर्मोपसंहारादयो न स्युः।''

90 द्रष्टव्य विश्वनाथ साहित्यदर्पण, 10/63. ' अनुमानं तु विच्छित्त्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात्।''

प्रमा (निश्चयात्मक यथार्थ अथवा सत्य ज्ञान) की सिद्धि के लिए अनुमान प्रमाण का आश्रयण होता है जबकि 'अनुमान' अलंकार में कल्पित वस्तु के लिंग तर्क का प्रयोग होता है। इस अलंकार में साध्य तथा साधन दोनों वैचित्र्याधायक तथा चमत्कारप्रदायक होते हैं।[91] इसमें व्याप्त्यादि न्याय-शास्त्रीय अनुमान के अन्य उपकरणों अथवा अवयवों का प्रश्न नहीं होता।[92] 'काव्यलिंग' तथा 'अनुमान' अलंकारों के लिंग (हेतु अथवा साधन) में भेद यह है कि 'काव्यलिंग' में कारकहेतु का उपनिबन्ध न होता है

91 द्रष्टव्य मम्मटविरचित काव्यप्रकाश 10/117 पर श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्यकृत 'सारबोधिनी' पृ० 428 'अत्र च वस्तुतो व्याप्त्यभावेऽपि कविप्रौढोक्तिसिद्धव्याप्तिज्ञानमित्यलङ्कारत्वम् अन्यथा वह्निमान् धूमादित्यत्रापि तथा स्यात् ।" माणिक्यचन्द्रकृत 'सङ्केत', पृ० 270 'प्रत्यक्ष प्रौढोक्त्या...लङ्कारत्वमन्यथा तर्कानुमानवैलक्षण्यम्", सिद्धिचन्द्रगणि काव्यप्रकाशखण्डन (सं० रसिकलाल छोटालाल पारिख, बम्बई सिंघी जैनशास्त्र विद्यापीठ भारतीय विद्या-भवन, 1953), पृ० 90 'अत्र वस्तुतो व्याप्त्यभावेऽपि कविप्रौढोक्त्या च व्याप्तिज्ञानमित्यलङ्कारत्वम् । अन्यथा वह्निमान् धूमादित्यत्रापि तथा स्यात् ।" रुय्यक अलङ्कारसर्वस्व सूत्र 59 की वृत्ति पृ० 549-50 विच्छित्तिविशेषस्याश्रयणाय, अन्यथा तर्कानुमानात् किं वैलक्षण्यम् ।... विच्छित्त्याश्रयणात्तर्कानुमान वैलक्षण्यम् । ...प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नत्वेन च विच्छित्तिविशेषाश्रयणात्वम् ।' (जयरथ विमर्शिनी, पृ० 552 "अतश्चात्र कविकर्मैव वैलक्षण्यनिमित्तमिति भावः । तर्के च कविकर्माभावात् विच्छित्तिविशेषाश्रयणं न स्यादिति नायमलङ्कारः । केवलं वास्तवव्याप्तिज्ञाननिबन्धनमात्रत्वात्तन्नायमलङ्कारः ।
कविकर्मणः तदनङ्गत्वनिबन्धनत्वेनोपगतत्वात् आरम्भस्य तत्त्वाभावात् । न हि तयोरन्यतरस्यापि कविकर्मव्यतिरेकेणालङ्कारत्वं स्यात् । तत्रान्यतरोऽपि हेतौ कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नत्वेनालङ्कारत्वाभ्युपगम न कश्चिद् दोषः ।), पण्डितराज जगन्नाथ रसगङ्गाधर, भाग 3 (वाराणसी विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला 11, द्वितीय संस्करण, 1969) द्वितीय आनन, पृ० 609 'अयं च कविप्रतिभो विच्छित्तिविशेषशालित्वेन चमत्कारि काव्यानुमानम् ।"

92 द्रष्टव्य मम्मटविरचित काव्यप्रकाश की श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्यरचित 'सारबोधिनी' टीका पृ० 429 (ऊपर टिप्पणी 90 में उद्धृत) सिद्धिचन्द्रगणि पूर्वोक्त ग्रन्थ पृ० 90 (ऊपर टिप्पणी 90 में उद्धृत), विद्याधर एकावली (सं० के० पी० त्रिवेदी 1903) पृ० 302 'अत्र साध्यसाधनयोः व्याप्त्यभिधाने व्याप्त्याद्यनुसन्धानं न कर्तव्यमित्युक्तं पर्यवसितम् । इत्यतः काव्यानुमानानुमानयोः भेदः । यदेव् कि च ... सामान्यानुमानं वैलक्षण्यरहितम् ।'

प्रकार व्यंजनावादियों की व्यंजनावृत्ति का आश्रय भी वाक्य ही मानना चाहिए, अत व्यंजना को पदवृत्ति (पद मे कार्य करने वाला व्यापार) कहना उचित नही है। आलंकारिकों ने शाब्दी व्यंजना भी स्वीकार की है, किन्तु उसका कारण यह नही है कि व्यंजना पदो मे कार्यरत रहती है अपितु केवल यह है कि व्यंजकत्व से युक्त कतिपय पदविशेषो का उपादान वहाँ अनिवार्य होता है, क्योंकि वहाँ उनके उपादान के बिना व्यंग्यार्थ की प्रतीति ही नही हो सकती। अत एव व्यंजना को वाक्यवृत्ति (वाक्य म कार्य करने वाला व्यापार) ही माना जाना चाहिए, पदवृत्ति नही। शाब्दी व्यंजना की स्थिति मे संयोग (प्रसिद्धसम्बन्ध), विप्रयोग (प्रसिद्धसम्बन्धध्वंस), साहचर्य (एकाकलदेशावस्थायित्व, एक कार्य मे परस्पर सापेक्षत्व), विरोधिता (वध्यघातकत्व, सहानवस्थान), अर्थ (प्रयोजन, अनन्यथासाध्य फल), प्रकरण (प्रस्ताव, वक्तृश्रोतृबुद्धिस्थता), लिंग (चिह्न) अन्य शब्द की सन्निधि, सामर्थ्य (कारणता), औचिती (योग्यता), देश (स्थान), काल (समय), व्यक्ति (स्त्रीपुंस्त्वादि लिंग), तथा स्वर (उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित—ये तीन स्वर) आदि[96] से नियन्त्रित अर्थ वाच्यार्थ (अथवा अन्वय) होता है और उसके बाद प्रतीत होने वाला अर्थ प्रतीयमान।[97]

97 द्रष्टव्य मम्मट काव्यप्रकाश, 2/19

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम्॥
×××　　　×××

16

आनन्दवर्द्धन—व्यक्तित्व एवं कृतित्व

श्रीकृष्ण देव अग्रवाल

व्याकरण के क्षेत्र में जो स्थान पाणिनि को प्राप्त है तथा अद्वैत वेदान्त में जिस स्थान पर शंकराचार्य जी सुशोभित हैं, अलंकार शास्त्र में वही गौरवस्थान श्री आनन्दवर्धनाचार्य जी का है। काव्यशास्त्रीय मणि-माला में उनका स्थान शीर्षस्थ मणिकावत् है। आलोचना शास्त्र को एक नवीन वैज्ञानिक, सुसम्बद्ध, क्रमबद्ध, वास्तविक एवं काव्य निरूपक स्वरूप प्रदान करने का श्रेय इन्हीं आचार्य का है।

आनन्दवर्धनाचार्य जी काश्मीर के निवासी थे और महाकवि कल्हण कृत राजतरंगिणी के एक श्लोकानुसार 'सम्राट अवन्तिवर्मा के साम्राज्य में मुक्ताकण, शिवस्वामी, कवि आनन्दवर्धन और हरविजय ग्रन्थ के निर्माता कवि रत्नाकर ये चार विद्वान बहुत अधिक प्रसिद्ध थे'[1]। विदित होता है कि आनन्दवर्धनाचार्य काश्मीर नरेश अवन्तिवर्मा (८५५-८८४ ई०) के सभा पण्डितों में अन्यतम थे। महाकवि कल्हण का यह निर्देश राजतरंगिणी में सर्वथा मान्य एवं प्रामाणिक है। कल्हण के उपर्युक्त मत की पुष्टि अन्य प्रमाणों से भी हो जाती है। आनन्दवर्धन के टीकाकार श्री अभिनवगुप्त ने अपने 'क्रमस्तोत्र' की रचना सन् 991 ई० में की। आनन्दवर्धन के ग्रन्थ

1. 'मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥ 5।34

'देवी शतक' के ऊपर चन्द्रादित्य के पुत्र तथा वल्लभदेव के पौत्र श्री कैयट ने *एक टीका सन् 997 ई० मे लिखी थी।* *ध्वनिकार ने उद्भट का मत* 'ध्वन्यालोक' मे प्रस्तुत किया है। और दूसरी ओर राजशेखर ने आनन्दवर्धन का उद्धरण दिया है इसका अभिप्राय यह है कि वे उद्भट्ट के समय अर्थात् 800 ई० के पश्चात् और राजशेखर के समय अर्थात् 900 ई० के पूर्व हुए थे। अतएव आनन्दवर्धनाचार्य जी का समय नवीं शताब्दी का मध्य ही माना जा सकता है। इनकी 'देवी शतक' नामक रचना के 101वें श्लोक से विदित होता है कि इनके पिता का नाम नोण था। हेमचन्द्र ने *भी अपने 'काव्यानुशासन विवेक' (पृ० 225) में बताया है कि आनन्दवर्धन* नोण के पुत्र थे। ध्व० पृष्ठ 10 पर 'तथा चान्येनकृत एवात्र श्लोक" पर लोचनकार का कथन है कि "ग्रन्थकृत्समानकालभाविनामनोरथनाम्ना' लोचनाकार की दृष्टि से मनोरथ नामक कवि आनन्दवर्धनाचार्य के सम-कालीन थे। यदि इस मनोरथ को जयापीड[1] का समकालीन रखा जाय तो वह आनन्दवर्धन का समकालीन नही हो सकता। डा० कृष्णमूर्ति (इ० हि० क्वा० भाग 24, पृ० 308) का मत है कि आनन्दवर्धन का *बाल्यकाल तथा मनोरथ का वार्धक्य समकालीन है। यह मत भी निराधार* प्रतीत होता है। राजतरंगिणी (5।34) के अनुसार आनन्दवर्धन की कवि के रूप मे प्रसिद्धि अवन्ति वर्मा के शासन मे हुई। प्रतीत होता है विषम-*बाणलीला, अर्जुनचरित और देवी शतक की रचना ध्वन्यालोक से पहले ही* हो चुकी थी। इसका तात्पर्य है कि 'ध्वन्यालोक' किसी परिपक्व आयु वाले अनुभवी व्यक्ति की कृति है।

अतः यह स्वीकार करना होगा कि 875 ई० म अथवा उसके निकट पश्चात् *आनन्दवर्धन की कवि के रूप मे नही अपितु आलंकारिक के रूप मे* प्रसिद्धि हो चुकी थी। यदि मनोरथ का आनन्दवर्धन का समकालीन तथा प्रतिपक्षी माना जाय तो उसका समय नवम शताब्दी का अन्तिम भाग रखना होगा, *जबकि जयापीड (779 813) की राजसभा मे कवि के रूप मे* उसका जीवन अष्टम शताब्दी के अन्तिम भाग मे प्रारम्भ हुआ माना

2. मनोरथ शङ्खदत्तश्चटक सन्धिमांस्तथा।
बभूवु कवयस्तस्य वामनाद्याश्चमन्त्रिणा॥
—राजतरंगिणी 4।497

जाता है। अतः यह स्वीकार करना होगा कि उनकी आयु 100 वर्ष से भी अधिक थी और वृद्धावस्था में भी उन्होंने आनन्दवर्धन का खण्डन किया।

आनन्दवर्धन कारिकाकार या वृत्तिकार ?

प्रश्न उठता है कि क्या कारिका वृत्ति तथा उदाहरण तीनों भागों के रचयिता एक ही हैं ? यदि नहीं तो मूल के कौन हैं और वृत्ति के कौन ? इसमें कोई सन्देह नहीं कि वृत्ति और उदाहरण के रचयिता एक ही विद्वान् हैं। किन्तु कारिकाकार तथा वृत्तिकार की एकता का विषय विवादास्पद है। डा० कृष्णमूर्ति ने सन् 1955 में पूना से प्रकाशित होने वाले अपने अनूदित ध्वन्यालोक की प्रस्तावना (पृ० 18) में कारिकाकार तथा वृत्तिकार के एक होने का समर्थन किया है। डा० काणे ने कारिकाकार एवं वृत्तिकार की एकता एवं भिन्नता के विषय में अन्त एवं बाह्य दोनों प्रकार के प्रमाण पर्याप्त मात्रा में विभिन्न ग्रन्थों से एकत्रित किये हैं।

सन् 1801 में डा० बूलर ने कारिकाकार एवं वृत्तिकार की एकता अथवा भिन्नता सम्बन्धी प्रश्न को उठाया था।[3] तब से लगातार विद्या विशारदों के लिए एक विवादास्पद विषय बना हुआ है। आचार्य अभिनव गुप्तकृत 'लोचन' एवं अभिनव भारती' दोनों रचनाओं में अनेक स्थल ऐसे हैं जिनमें कारिकाकार एवं वृत्तिकार दोनों की एकता सिद्ध होती है। डा० शंकरन्[4] ने अभिनव भारती में कई ऐसे पाठ एकत्रित किए हैं जो कारिकाकार एवं वृत्तिकार दोनों की एकता प्रमाणित सिद्ध करते हैं। अभिनवगुप्त ने 'लोचन' में वृत्ति तथा उदाहरणों के साथ 'ग्रन्थकृत' शब्द का प्रयोग किया है और कारिकाओं के साथ मूलग्रन्थकृत अथवा ग्रन्थकार का। जैसे कि 'प्रतिपादित में वैतामालम्बनम् (ध्व० 166) पर लो० 'अस्मन्मूलग्रन्थकृतेत्यर्थः' ध्वन्यालोक पृ० 169-70, के 'एवमादौ च विषये यथौचित्यत्यागस्तथादर्शित मे वाग्रे' पर लोचनकार ने कहा है—

'दर्शितमेतेनिकारिकाकारेणेति भूतप्रत्यय' उपर्युक्त कथन से वास्तव में सिद्ध होता है कि यदि कारिकाकार तथा वृत्तिकार एक ही व्यक्ति होता

3 काश्मीर रिपोर्ट—पेज 65
4. 'थ्योरीज आफ रस एण्ड ध्वनि' पृ० 59

तो वह आगे वर्णित किए जाने वाले प्रसंग के लिए 'दर्शितम्' के स्थान पर भविष्यत् काल का प्रयोग करता। किन्तु कारिकाओं का रचयिता वृत्तिकार से भिन्न एवं पूर्ववर्ती है अतएव वृत्तिकार ने दर्शितमेवाग्रे (कारिकाकारेण) कहा है। 'तथा चान्येनकृत एवात्र श्लोक (ध्व० पृ० 10) पर लोचनकार का कथन है—

'ग्रन्थकृत्समानकालभाविना मनोरथनाम्ना'। मनोरथ जयापीड (779 813 ई०) की राजसभा का कवि माना जाता है। मनोरथ अत्यन्त वृद्ध होंगे जबकि आनन्दवर्धनाचार्य बालक। 'सहृदयानामानन्द —(ध्व० पृ० 13) शब्दों पर लोचन का कथन है—"आनन्द इति च ग्रन्थकृतोनाम तेन स एवानन्दवर्धनाचार्य एतच्छास्त्र—द्वारेण इत्यादि—(पृ० 14), समासोक्त्याक्षेपयोरेक—मेवोदाहरण व्यतरद् ग्रन्थकृत" (लोचन पृ० 44), एवमभिप्रायद्वयमपि साधारणोक्त्या ग्रन्थकृतन्यरूपयत् (पृ० 45) 'आहूतोऽपि सहायै' कारिका पर 'अतएव ग्रन्थकार सामान्येन इत्यादि' (लो० पृ० 70)।

उपरोक्त उद्धरणों से यही विदित होता है कि लोचन की दृष्टि में वृत्ति के रचयिता आनन्दवर्धन हैं और वे मूलकारिकाकार से भिन्न हैं। ध्वन्यालोक पृ० 166 पर लोचन का जो कथन है वह भी अभिन्नता का समर्थक है। लोचन के 'अस्मन्मूलग्रन्थकृता' शब्दों पर डा० मुकर्जी का कथन है—'मेरा मत है कि उपरोक्त भेद केवल पद्धति का है। जिसे छोड़ना उस समय गम्भीर एवं अक्षम्य अपराध माना जाता था"। डा० कृष्णमूर्ति ने प्रारम्भ से लेकर अन्त तक डा० मुकर्जी का अनुसरण किया है। इस मत की डा० काणे ने कटु आलोचना की है। 'अस्मन्मूलग्रन्थकृता' पर डा० कृष्णमूर्ति का कथन है—"इन शब्दों में कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती क्योंकि इस प्रकार की अभिव्यक्ति उस समय की शैली रही है"। इस सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि लोचनकार ने ग्रन्थकृत अथवा ग्रन्थकार शब्द का अन्यत्र किस अर्थ में प्रयोग किया है? पृष्ठ 44 पर वृत्तिकार ने 'अनुरागवती सन्ध्या' आदि श्लोक उद्धृत किया है। उस पर लोचन का निर्णायक कथन है—

'वामनाभिप्रायेणायमाक्षेप......

एकमेवोदाहरणंव्यतरद् ग्रन्थकृत......।

इत्यत्राशयोत्र ग्रन्थेऽस्मद् गुरुभिर्निरूपित।

यहाँ ग्रन्थकृद् शब्द का प्रयोग वृत्तिकार के लिए हुआ है क्योंकि

उदाहरण वृत्ति के ही अन्तर्गत है। डा० काणे के अनुसार तो 'ग्रन्थकृत्' शब्द का प्रयोग ही सर्वत्र केवल वृत्तिकार के लिए हुआ है। डा० काणे 'संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास' पृ० २१२ पर विद्वानों को चुनौती देते हुए लिखते हैं कि—

'जो लोग अभेद के समर्थक हैं उनसे मेरा अनुरोध है कि एक भी ऐसा स्थान प्रस्तुत करें जहाँ लोचन ने 'ग्रन्थकृत्' शब्द का प्रयोग कारिकाकार के लिए किया है'' । डा० पी० वी० काणे का तर्क है कि यदि लोचन की दृष्टि में कारिकाकार और वृत्तिकार एक ही हैं तो उन्होंने ग्रन्थकार या कारिकाकार क्यों नहीं कहा ? इसी प्रकार लोचन में अनेक स्थलों पर ग्रन्थकृत अथवा ग्रन्थकार शब्द से केवल वृत्तिकार का ग्रहण हुआ है। पृ० 14 पर भी दोनों स्थानों पर (आनन्दवर्ति च ग्रन्थकृतो नाम तथा सहृदय ...ग्रन्थकृदिति भाव । अतः हमें ग्रन्थकृत शब्द से वृत्तिकार का ही ग्रहण करना चाहिए।

डा० पाण्डे, डा० मुकुर्जी तथा डा० कृष्णमूर्ति इस बात को स्वीकार करते हैं कि नवम शताब्दी में काश्मीर की यह परम्परा रही है कि जहाँ एक ही विद्वान् मूलकारिकाओं की रचना करता है और स्वयं ही उस पर वृत्ति लिखता है। डा० पाण्डे (अभिनवगुप्त पृ० 135) पर कथन है "अभिनवगुप्त के परमगुरु उत्पलदेव ने स्वयं ही ईश्वर प्रत्यभिज्ञा नामक कारिकाबद्ध ग्रन्थ की रचना की और उस पर वृत्ति भी स्वयं ही लिखी थी। साथ ही डा० पाण्डे ने बताया है कि अभिनवगुप्त ने अपनी 'विमर्शिनी' नामक टीका में कहीं यह संकेत नहीं किया कि कारिकाकार और वृत्तिकार एक ही हैं। परिणामस्वरूप अनजान व्यक्ति को इन दोनों में पारस्परिक भेद का भ्रम हो सकता है। डा० पी० वी० काणे का कथन है कि डा० पाण्डे ने ध्वन्यालोक के कारिकाकार एवं वृत्तिकार में एकता स्थापित करने के लिए उपरोक्त बात तुलना के रूप में प्रस्तुत की है। अभिनवगुप्त ने अपने प्रस्तावना श्लोक सं० 5 की विमर्शिनी (पृ० 3) में स्पष्ट रूप में कहा है कि ईश्वर प्रत्यभिज्ञा के रचयिता उत्पलदेव ने स्वयं ही सूत्र अर्थात् कारिकाओं की रचना की और उनका आशय प्रकट करने के लिए स्वयं ही वृत्ति रची एवं कारिकाओं में प्रतिपादित सिद्धान्तों की चर्चा के लिए एक टीका भी लिखी (सूत्रतात्पर्यटीकया तद्विचार. सूत्रेस्वेनेसूत्रकारेण कृतम्)। इससे अधिक स्पष्टोक्ति नहीं हो सकती। कारिकाकार तथा वृत्ति-

कार का अभद प्रदर्शन करते समय अभिनवगुप्त के सम्मुख परम्परा सम्बन्धी कोई निषेध उपस्थित नही हुआ। इसी बात को ध्वन्यालोक के सम्बन्ध मे स्वीकार करते समय प्रश्न होना है कि—लोचन अथवा अभिनवगुप्त ने प्रारम्भ म ही यह क्यो नही कहा कि कारिकाकार और वृत्तिकार एक ही हैं (जैसा कि विमर्शिनी मे अभिनवगुप्त ने किया है), वे इस विषय मे मौन क्यों हैं ? और पाठकों को लोचन के शब्दो पर विविध प्रकार के तर्क करने, अनुमान लगाने एव विविध प्रकार की उलझनों मे क्यो छोड दिया ? म० म० कुप्पुस्वामी शास्त्री (उपलोचन पृ० 11) तथा डा० पाण्डे (अभिनवगुप्त पृ० 135 136) ने कारिकाकार तथा वृत्तिकार दोनो की एकता सिद्ध करने के लिए यह तर्क प्रस्तुत किया है कि ध्वन्यालोक की कारिकाओ के प्रारम्भ मे प्रकटत कोई मगल नहीं है जब कि वृत्ति के प्रारम्भ म मगल श्लोक विद्यमान है। किन्तु इस तर्क के विरुद्ध अनेक प्रमाण प्रस्तुत करते हुए डा० पी० वी० काणे ने कहा है कि प्राचीन लेखकों ने ग्रन्थ के आदि मे मगलाचरण की प्रथा का सर्वत्र पालन नहीं किया। उदाहरणार्थ शबर, शकराचार्य, वात्स्यायन आदि ने क्रमश जैमिनीय सूत्रों पर भाष्य, ब्रह्म सूत्रों पर भाष्य, न्याय सूत्रों पर भाष्य के आदि मे मगलाचरण नही किया। दूसरे मगल सम्बन्धी विविध परम्पराए रही हैं। वामन न सूत्रो के प्रारम्भ मे कोई मगल नही किया केवल वृत्ति के प्रारम्भ मे किया है। मम्मट ने काव्यप्रकाश की कारिकाओ क प्रारम्भ म मगल नहीं किया। उद्भट ने अपने काव्यालकार के प्रारम्भ मे कोई मगल नही किया। अलङ्कार सर्वस्व मे सूत्रो के प्रारम्भ मे कोई मगल नही है किन्तु वृत्ति के प्रारम्भ म किया गया है। हेमचन्द्र ने सूत्र तथा अलकार चूडामणि नामक वृत्ति दोनो के प्रारम्भ मे मगल किया है। इसके लिए कोई शैली भी निश्चित नही है। डा० कृष्णमूर्ति का कथन है कि आनन्दवर्धन ने सर्वप्रथम कारिकाओं को रचा और उन्हे शिष्यों को पढाना प्रारम्भ किया तथा कुछ काल पश्चात् वृत्ति रची। किन्तु डा० काणे इस तर्क को न्यायसगत स्वीकार नही करते। लोचन मे कई स्थलो पर वृत्तिकार शब्द आया है जिसको लेकर विद्वानो के मध्य यही प्रश्न विवादास्पद चला आ रहा है।

सहृदय या आनन्दवर्धन ?

यह प्रश्न भी विवादास्पद रहा है कि क्या सहृदय आनन्दवर्धनाचार्यजी का विशेषण है ? क्या कारिकाकार का नाम सहृदय था ? क्या कारिककार एवं वृत्तिकार दोनों ही सहृदय थे ? इस विषय में भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किए हैं। प्रा० सोवानी के मतानुसार कारिकाकार का नाम सहृदय था। चाहे जनसाधारण हो चाहे कोई कवि हो यदि वह काव्य-मर्मज्ञ एवं काव्य रसिक है तो उसे विद्वानों ने सहृदय नाम से अभिहित किया है। 'ध्वन्यालोक' के परवर्ती आचार्यों की रचनाओं का जब हम अनुशीलन करते हैं तो हमको ज्ञात होता है कि किसी स्थल पर सहृदय शब्द आनन्दवर्धन के लिए विशेषण के रूप में आया है और कहीं पर जन-साधारण अथवा काव्यरसिक के लिए विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। लोचन ने आनन्दवर्धन का 'सहृदय चक्रवर्ती खल्वयं ग्रन्थकृदिति भाव' पृ० 14) शब्दों द्वारा निर्देश किया है। ध्वनिकार ने 'सहृदय' शब्द का प्रयोग बार-बार किया है। काव्यशास्त्र सम्बन्धी सभी प्रश्नों के लिए सहृदय जन को ही अन्तिम निर्णायक माना है। इसी कारण ध्वनिकार को 'सहृदय चक्रवर्ती' की उपाधि से विभूषित किया गया। वाल्मीकि रामायण (अयोध्याकाण्ड 13-22) तथा कालिदास (भवतम कम्पमनो न दूयते, कुमारसम्भवम् 5 48) ने सहृदय अथवा सचेतस् शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ में अर्थात् सहानुभूतिपूर्ण हृदय वाले व्यक्ति के लिए किया है।

ध्वनिकार से पूर्व 100 वर्ष पहले भी आचार्य वामन काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति' में सहृदय हृदयमा रजक काव्यविपाक' में सहृदय शब्द का प्रयोग कर चुके थे। काव्यशास्त्र में मेधावी, दण्डी, धनिक आदि अनेक विशेषण-वाची शब्दों का प्रयोग ग्रन्थकारों के लिए हुआ है। यदि 'सहृदय' आचार्य आनन्दवर्धन का विशेषणवाची हो गया हो तो कोई नवीन बात नहीं है। अतः वृत्तिकार आनन्दवर्धनाचार्य के रूप में तथा कारिकाकार सहृदय के रूप में भिन्न-भिन्न मानना असमीचीन एवं भ्रमपूर्ण है। जब 'सहृदय' शब्द आनन्दवर्धनाचार्य का विशेषणवाची है तो कारिकाकार एवं वृत्तिकार भी सहृदय अथवा आनन्दवर्धनाचार्य ही हैं। डा० पी० वी० काणे ने सहृदय को आनन्द के गुरु होने की सम्भावना व्यक्त की है किन्तु आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने गुरु अथवा मार्गदर्शक के रूप में किसी आचार्य

पृ० 29 तथा 34 पर भी कारिका के समान वृत्तिकार का भी ध्वनिकार कहा गया है। क्षेमेन्द्रकृत औचित्य विचार चर्चा में ध्वन्यालोक की निम्नलिखित कारिका आनन्दवर्धन के नाम से उद्धृत है—'विरोधीवाविरोधी वा रसोऽङ्गिनि रसान्तरे ।......विरोधिता' । हेमचन्द्र (विवेक पृ० 20) ने 'प्रतीयमान पुनरन्यदेव' आदि कारिका (ध्व० 1.4) को आनन्दवर्धनकृत माना है। इसी प्रकार काव्यानुशासन पृ० 113 तथा 235 पर ध्वन्यालोक कारिका सं० 3.3 तथा 390 को ध्वनिकारकृत बताया है। साहित्यदर्पण ने कारिका सं० 1 तथा 2.12 को ध्वनिकार या ध्वनिकृत के नाम से उद्धृत किया है तथा 'न हि कविरितिवृत्तमात्र-निर्वाहेण' इत्यादि (ध्व० पृ० 148) वृत्ति को भी ध्वनिकारकृत माना है। उपर्युक्त रचना से स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन ही कारिका तथा वृत्ति दोनों के रचयिता हैं। सहृदय शब्द जहाँ कहीं आनन्दवर्द्धन का विशेषणवाचक है वहाँ काव्यमर्मज्ञ का वाचक विशेषणपद है। फिर वृत्ति भाग तथा कारिका भाग दोनों के आरम्भ में 'स्वेच्छा के कारिका' यह एक ही मंगलाचरण का प्रकार मिलता है। यदि इन दोनों भागों के रचयिता भिन्न भिन्न व्यक्ति होते तो निश्चय ही दोनों भागों के मंगलाचरण के प्रकार अलग-अलग होने चाहिए थे। आनन्दवर्धनाचार्य ने मंगलाचरण के पश्चात सबसे पहली कारिका में तत् ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्' में सहृदय' पद का प्रयोग किया है। ग्रन्थ की समाप्ति करने हुए वृत्ति भाग के सबसे अन्तिम श्लोक में भी उसी सहृदय पद से ग्रन्थ का उपसंहार किया है।

दोनों स्थानों पर सहृदय' पद काव्यमर्मज्ञों का वाचक है। उपक्रम तथा उपसंहार का यह सामञ्जस्य कारिका भाग तथा वृत्ति भाग दोनों के एक ही रचयिता का सूचक है। यदि सहृदय ही कारिकाकार होते तो वे प्रथम कारिका 'सहृदयमनः प्रीतये' नहीं लिख सकते थे।

राजशेखर ने निम्नलिखित श्लोक में आनन्दवर्धन को ध्वनि का प्रतिष्ठाता स्वीकार किया है—

'ध्वनिनातिगभीरेण काव्यतत्त्वनिवेशिना ।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः ॥'

ग्रन्थ में आनन्दवर्धनाचार्य जो ने ग्रन्थ की समाप्ति पर लिखा है—

"सत्काव्यतत्त्वनयवर्त्मचिरप्रसुप्त—
कल्पमनस्सु परिपक्वधियां यदासीत् ।

तद्‌याकरोत्सहृदयोदयलाभहेतो—
रानन्दवर्धनइति प्रथिताभिधान ॥"

अर्थात् उत्तम काव्य का तत्त्व और नीति का जो मार्ग परिपक्व बुद्धि वाले के मनो म चिरकाल से प्रसुप्त के समान (अव्यक्तरूपेण) स्थित था, सहृदयो की अभिवृद्धि और लाभ के लिए आनन्दवर्धन इस नाम से प्रसिद्ध मैंने उसको प्रकाशित किया। उपर्युक्त श्लोक म स्पष्ट है कि कारिका एव वृत्तियुक्त समस्त ग्रन्थ ध्वन्यालोक के रचयिता सहृदयमना आनन्दवर्धनाचार्य ही थे।

डा० मुकर्जी का निम्नलिखित कथन[5] उचित प्रतीत होता है—' मेरा दृढ विश्वास है कि प्रत्येक विद्वान इस बात को स्वीकार करेगा कि कारिका तथा वृत्ति के भिन्न भिन्न कर्त्ताओं की मान्यता केवल कपोल-कल्पना है और पूर्णतया भ्रमपूर्ण है। इसका एकमात्र कारण अविनाभाव के सम्यक् विचार का अभाव है। मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हू कि इस प्रश्न का समाधान अन्तिम रूप से हो चुका है।"

अन्य रचनाए—

महाकवि कल्हण न कहा है—
' मुक्ताकरण शिवस्वामी कविरानन्दवर्धन ।
प्रथा रत्नाकरश्चागात्साम्राज्यऽवन्तिवर्म ॥

इससे स्पष्ट है कि आनन्दवर्धनाचार्य काश्मीर नरेश महाराज अवन्तिवर्मा (855-883 ई०) की राज सभा के अन्यतम कवि थे। राजतरगिणी[6] म उद्भट का भी निर्देश किया है जो चन्द्रादित्य क पुत्र तथा कल्लभट्ट के पौत्र थे। कैयट ने भीम गुप्त के शासन काल म सन् 977 ई० मे आनन्दवर्धनाचार्यकृत देवीशतक पर एक टीका लिखी थी। 'ध्वन्यालोक' में अर्जुनचरित एव विषमबाणलीला के संस्कृत प्राकृत छन्दो को उद्धृत किया गया है। किन्तु देवीशशतक' का कही भी उल्लेख नही किया है। 'लोचन म अर्जुनचरित, 'विषमबाणलीला' तथा 'देवीशतक' तीनों का उल्लेख है। अत स्पष्ट है कि 'अर्जुनचरित' विषमबाणलीला'

5 इण्डियन कल्चर भाग 12 पृ०-60
6 राजतरगिणी-5 34

तथा 'देवीशतक' तीनों ग्रन्थ ध्वन्यालोक से पूर्व लिखे जा चुके थे। इनके प्रणयन में कवि की लेखन शैली अत्यन्त अभ्यस्त एवं सुष्ठु होने के पश्चात् ही ध्वन्यालोक जैसा प्रौढ़, गम्भीर एवं पाण्डित्यपूर्ण अभूतपूर्व ध्वनिप्रवर्तक ग्रन्थ लिखा गया। आनन्दवर्धनाचार्य न केवल महान् काव्यशास्त्री थे अपितु एक महान् सहृदय कवि एवं दार्शनिक भी थे। उन्होंने 'देवीशतक' नामक स्तोत्र ग्रंथ भी रचा था जिसमें यमक, भाष श्लेष, गोमूत्रिका तथा चित्रबन्ध आदि का चमत्कार दिखाया गया है। देवीशतक का 101वां श्लोक ऐतिहासिक महत्व रखता है क्योंकि उसमें नोण को आनन्दवर्धनाचार्य जी का पिता कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि आनन्दवर्धनाचार्य जी ने चित्र-काव्य को ध्वन्यालोक में क्यों बहिष्कृत नहीं किया।

आनन्दवर्धनाचार्य ने पृ० 10 पर एक कारिका उद्धृत की है—'काव्य तद्ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशसन्जडो नोविद्मोभिद्धाति किं सुमतिना पृष्ट स्वरूप ध्वने' लोचन ने इसे मनोरथकृत बताया है जो ध्वनिकार का समकालीन था। प्रस्तुत कारिका म ध्वनि मत का खण्डन किया गया है। मनोरथ का उल्लेख राजतरंगिणी (4 497) में है।

"मानी मनोरथोमन्त्री पर परिजहार तम्"

इसमें मनोरथ द्वारा (रा० 4 671) राजा जयापीड (779 813) के उत्तराधिकारी कामोन्मत्त ललितापीड के परित्याग का उल्लेख है। यदि हम ध्वन्यालोक पृ० 10 पर आई हुई कारिका ध्वनिविरोधी कारिका को 'लोचन' के अनुसार 'मनोरथकृत' मान लेते हैं तो अर्जुनचरित, विषमबाण लीला, देवीशतक का ध्वन्यालोक से पहले लिखा जाना सिद्ध नहीं होता क्योंकि मनोरथ जब अत्यन्त वृद्ध होंगे तब उस समय आनन्दवर्धनाचार्य बाल्यावस्था में होंगे। उस अवस्था म ध्वन्यालोक का लिखा जाना भी कठिन एवं असम्भव था। मनोरथ एवं आनन्दवर्धन के काल क्रम की दृष्टि से एवं शैलीक्रम की दृष्टि से ध्वन्यालोक' आनन्द की प्रौढ़ावस्था की ही रचना सिद्ध होती है। आनन्दवर्धनाचार्य ने अर्जुनचरित, विषम बाण लीला, देवीशतक एवं ध्वन्यालोक के अतिरिक्त धर्मोत्तमा पर एक ग्रन्थ लिखा था और उसकी रचना ध्वन्यालोक के पश्चात् की थी। धर्मोत्तमा धर्मकीर्ति के प्रमाणनिश्चय की टीका है। 'यत्त्वनिर्देश्यत्व सर्व-लक्षणविषये बौद्धाना प्रसिद्ध तन्मतपरीक्षायाग्रन्थान्तरे निरुपयिष्याम" (पृ० 292) इस पर लोचन का निम्नलिखित कथन है—

"विनिश्चय टीकाया धर्मोत्तमाया या विवृतिरमुना ग्रन्थकृता तत्रैव तद्व्याख्यातम्'।

डा० विद्याभूषण ने[7] प्रमाण विनिश्चय की धर्मोत्तरकृत धर्मोत्तमा टीका की तिथि 847 ई० बताई है। धर्मोत्तमा मूल संस्कृत में उपलब्ध नहीं है, केवल तिब्बती अनुवाद प्राप्य है। जनरल ऑफ द डिपार्टमेंट लैटर्स (संख्या 9), कलकत्ता विश्वविद्यालय में चतुर्थ उद्योत पर अभिनव-गुप्तकृत टीका प्रकाशित हुई थी जिसका सम्पादन डा० एस० के० दे ने मद्रास में सुरक्षित दो हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर किया है। इससे ज्ञात होता है कि आनन्दवर्धन ने तत्त्वालोक जैसा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ लिखा था जिसमें शास्त्रनय तथा काव्यनय के परस्पर सम्बन्ध का निरूपण था। वृत्ति (पृ० 300) में निम्नलिखित शब्द आए हैं—

"मोक्षलक्षण एवैक: पर: पुरुषार्थ: शास्त्रनये काव्यनये च तृष्णाक्षय सुखपरिपोष लक्षण: शान्तरसो महाभारतस्याङ्गित्वेन विवक्षित इति सुप्रतिपादितम्"। लोचन का कथन है—"शास्त्रनय इति। तथाम्नायमाता-नाविर्भूतार्थं ...नय व्यवहार शास्त्र चन कार्यांश तु रसव्यवहार इति भाव। एतच्च ग्रन्थकारेण तत्त्वालोके वितत्य कथितम्'। (लोचन पृ० 31)

ध्वनि सिद्धान्त की प्रेरणा

लोचन ने ध्वन्यालोक के "परम्परया समाम्नात" शब्दों की व्याख्या करते हुए लिखा है कि ध्वन्यालोक से पहले ध्वनिविषयक कोई ग्रन्थ नहीं था—

'विनापि विशिष्ट पुस्तकेषु विवेचनादित्यभिप्राय" (लोचन पृ० 4) ध्वन्यालोक में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ध्वनि सिद्धान्त तथा इसका नामकरण व्याकरण के स्फोट सिद्धान्त से लिया गया है। 'प्रथम हि विद्वांसो वैयाकरणा ।

व्याकरणमूलत्वात्सर्व विद्यानाम्। न च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभि सूरिभि काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्य-

7. हिस्ट्री ऑफ इंडियन लॉजिक (पृ० 329-331)

वाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः'। (ध्व० पृ० 55-56) तथा 'परिनिश्चित निरपभ्रंश शब्द ब्रह्मणा विपश्चितां मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽयं ध्वनिव्यवहार इति तैः सह किं विरोधाविरोधौ चिन्त्येते'। (पृ० 249) सम्भवतया स्फोटसिद्धान्त पाणिनि से भी प्राचीन है।

उपर्युक्त पंक्तियों में ध्वनिकार ने स्पष्टरूपेण स्वीकार किया है कि "सूरिभि काव्यतत्त्वार्थदर्शिभि" में सूरिभि (विद्वानों द्वारा) से तात्पर्य वैयाकरणों से है क्योंकि वैयाकरण ही प्रथम विद्वान हैं तथा व्याकरण ही समस्त विद्याओं का मूल है। वैयाकरण श्रूयमाण (सुने जाते हुए) वर्णों में ध्वनि का व्यवहार करते हैं। लोचनकार अभिनवगुप्त ने तो व्याकरण के स्फोट सिद्धान्त का आलंकारिकों के इस ध्वनिसिद्धान्त के साथ पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित किया है। ध्वनि के पाँचों रूप व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ व्यंग्यार्थ, व्यञ्जनाव्यापार तथा व्यंग्य काव्य सभी के लिए व्याकरण में निश्चित एवं स्पष्ट संकेत प्राप्त होते हैं। अष्टाध्यायी 6.1.123 में 'अवङ् स्फोटायनस्य" सूत्र है। वाक्यपदीय (1.44 तथा आगे) में स्फोट-सिद्धान्त की विस्तृत एवं सुसम्बद्ध व्याख्या है।

वैयाकरणों के अनुसार हम किसी के द्वारा उच्चरित शब्द को नहीं अपितु उस ध्वन्यात्मक शब्द को सुनते हैं। भर्तृहरि ने भी कहा है "यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते। स स्फोटः शब्दजः शब्दो ध्वनिरित्युच्यते बुधैः॥" अर्थात् करणों के संयोग और वियोग से जो स्फोट उत्पन्न होता है वह शब्दज शब्द विद्वानों द्वारा ध्वनि कहलाता है। वक्ता के मुख से उच्चरित शब्दज शब्द हमारे मस्तिष्क में नित्यवर्तमान स्फोट को जाग्रत कर देते हैं। इसी प्रकार आलंकारिकों के अनुसार भी घण्टानादवत् अनुरणन रूप शब्द से उत्पन्न व्यंग्य अर्थ ध्वनि है।

शब्द साम्य एवं व्यापार साम्य के आधार पर आनन्दवर्धन ने व्याकरण के स्फोट सिद्धान्त से प्रेरणा प्राप्त कर ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना करते हुए कहा है कि—

'अतएव चैतिवृत्तिमात्रवर्णनप्राधान्येऽङ्गाङ्गिभावरहित भावनिबन्धेन च कवीनामेवंविधानि स्खलितानि भवन्तीति रसादिरूपव्यङ्ग्यतात्पर्यमेवैषां युक्तमिति यत्नोऽस्माभिरारब्धो न ध्वनिप्रतिपादनमात्राभिनिवेशेन' (ध्वन्यालोक पृ० 201-202) अर्थात् ग्रन्थ का ध्येय विविध तर्कों द्वारा केवल ध्वनि

का अस्तित्व सिद्ध करना नही है किन्तु यह बताना है कि काव्य का वास्तविक प्रयोजन एव कार्य व्यग्य है जो रस भाव आदि के रूप में परिणित होता है। यदि कवि केवल घटना वर्णन को अपना कर्त्तव्य मानता है तो रस या सुरुचि का अपलाप करता है। अत यह निश्चित है कि ध्वनि-सिद्धान्त का युगान्तरकारी ग्रन्थ ध्वन्यालोक से पूर्व न था किन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि ध्वनि का अस्तित्व आलकारिको एव काव्यविदों के मस्तिष्क मे विद्यमान न था। यद्यपि ध्वन्यालोक की भाति ध्वनिसिद्धान्त परक, सुसगठित, क्रमबद्धरूपेण लिखित कोई ग्रन्थ न था किन्तु इतना अवश्य है कि काव्य के सारभूत तत्त्व पूर्ववर्ती काव्यविदों के मध्य मौखिक एव परम्परागत रूप मे विद्यमान थे जिनको आगे चलकर आनन्दवर्धनाचार्य ने व्याकरण के स्फोटसिद्धान्त से प्रेरणा प्राप्त करते हुए ध्वनिसिद्धान्त के रूप में अभिहित किया।

ध्वन्यालोक का प्रतिपाद्य विषय

काशी सस्कृत सीरीज (हरिदास सस्कृत ग्रन्थमाला) ने समस्त ध्वन्यालोक प्रकाशित किया था। इसमे प्रथम चार उद्योतो पर अभिनवगुप्त का लोचन तथा बालप्रिया नामक नवीन टीका है। यह सस्करण सन् 19-0 मे प्रकाशित हुआ था। काव्य शास्त्र के इतिहास मे ध्वन्यालोक का वही स्थान है जो व्याकरण मे पाणिनि-सूत्रो का तथा वेदान्त में ब्रह्मसूत्र का ग्रन्थ अत्यन्त सुसगठित, सुदृढ़, क्रमबद्ध, प्रौढ, पाण्डित्यपूर्ण, प्राञ्जलितशैली, सूक्ष्म दृष्टि, गम्भीर भावपूर्ण एव मौलिकतापूर्ण है। ध्वन्यालोक के समकालीन एव परवर्ती आचार्यों ने आनन्दवर्धनाचार्य को काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रतिष्ठापक कहा है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी रसगगाधर मे कहा है—

"ध्वनिकृतामालकारिक सरणि व्यवस्थापकत्वात्" अर्थात् ध्वनिकार आलकारिको का मार्गदर्शन किया है।

इस ग्रन्थ मे तीन भाग हैं—

प्रथम भाग मे कारिकाए हैं। काव्य माला के प्रथम सस्करण मे इनकी सख्या 129 है। द्वितीय भाग में वृत्ति है जो कारिकाओं पर गद्यात्मक विशद व्याख्या है। तृतीय भाग मे उदाहरण [redacted] जो अधिकतर प्राचीन

कवियो से लिए गये हैं।

ध्वन्यालोक चार उद्योतो मे विभाजित है। प्रथम श्लोक शार्दूलविक्रीडित मे है चतुर्थ और षष्ठ उपजाति तथा तेरहवा आर्या है। तृतीय उद्योत मे चार आर्यायें हैं। इनके अतिरिक्त प्रथम तीन उद्योतो के सभी श्लोक अनुष्टुप हैं। चतुर्थ उद्योत मे केवल 17 कारिकाए हैं अन्तिम तीन क्रमश रथोद्धता मालिनी और शिखरिणी छन्दो मे हैं। जैकोबी ने जर्मन भाषा मे ध्वन्यालोक का अनुवाद किया था जो जड० डी० एम० जी० भाग 56 तथा 57 मे प्रकाशित हुआ था। डा० जैकोबी ने पाठ शुद्धि तथा अन्य बातो के लिए कुछ सुझाव दिए थे जो उत्तरवर्ती विद्वानों द्वारा स्वीकृत कर लिए गये हैं। प्रो० भट्टाचार्य ने अपने निबन्ध सिक्स्थ आल इण्डिया औरियण्टल कॉन्फ्रेन्स पृ० 613 627 म बताया है कि चतुर्थ उद्योत की कारिकाए कालान्तर मे जोडी गई हैं जैसा कि पहले वर्णित किया जा चुका है कि विद्वानो के मध्य वृत्तिकार एव कारिकाकार की एकता के सम्बन्ध मे पर्याप्त वादविवाद रहा है किन्तु सामान्य रूप से यही स्वीकार किया गया है कि कारिकाकार एव वृत्तिकार आनन्दवर्धनाचार्य ही थे। डा० के० कृष्णमूर्ति ने ध्वन्यालोक का अनुवाद किया था जो 1955 मे पूना से प्रकाशित हुआ था। उसकी भूमिका म उन्होने स्पष्टरूपेण कारिकाकार एव वृत्तिकार की एकता का समर्थन किया है।

ध्वन्यालोक का प्रमुख परिचय

श्री आनन्दवर्धनाचार्य जी ने अपने प्रारीप्सित ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति और उसके मार्ग मे आनेवाले विघ्नो पर विजय प्राप्त करने के लिए आशीर्वाद नमस्क्रिया तथा वस्तुनिर्देश स्वरूप त्रिविध मङ्गल प्रकारो म से आशीर्वचन रूप मे मङ्गलाचरण करते हुए नरसिंहावतार के प्रपन्नार्तिच्छेदक नखों का स्मरण किया है।

प्रथम उद्योत म ध्वनिविषयक प्राचीन आचार्यों के मता का निर्देश तथा युक्तियुक्त खण्डन है। प्रथम उद्योत ध्वनि क ऐतिहासिक महत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

अनुक्रमणिका